आचार्य गुणभद्र रचित आत्मानुशासन पर आधारित

गुणोपदेश

सम्पादन – डॉ. आचार्य विभवसागर
संकलन – क्षुल्लिका सिद्धश्री माताजी

क्षुल्लिका ह्रीं श्री माता जी

क्षुल्लिका सिद्ध श्री माता जी

ब्र. तनु दीदी

ब्र. सुरभि दीदी

ॐ

आचार्य गुणभद्र रचित आत्मानुशासन
पर आधारित

गुणोपदेश

–: मूल :–

आचार्य श्री गुणभद्र जी

–: सम्पादक :–

श्रमणाचार्य विभव सागर

–: संकलन:–

क्षुल्लिका सिद्धश्री माता जी

–: प्रकाशक :–

श्रमण श्रुत सेवा संस्थान

❑ कृति : गुणोपदेश

❑ कृतिकार : गुणभद्राचार्य

❑ शुभाशीष : प.पू. गणाचार्य श्री विरागसागर जी

❑ सम्पादन : आचार्य विभवसागर जी

❑ संकलन : क्षुल्लिका सिद्धश्री माताजी

❑ संस्करण : प्रथम, वर्ष-2020

❑ प्रतियाँ : 1000

❑ पुण्यार्जक : - सिंघई नरेश कुमार, वंदना जैन
डी.डी. नगर, रायपुर (छ.ग.)
- राजेश वर्षा जैन सिंघई
डी.डी. नगर, रायपुर (छ.ग.)

❑ प्राप्ति : सौरभ जैन जयपुर (राज.) 9829178749
टी.के.वेद इन्दौर (म.प्र.) 9425154777
प्रतिपाल टोंग्या इन्दौर (म.प्र.)9302106984
सन्मति जैन, सागर (म.प्र.) 9425462997

❑ प्रकाशक : श्रमण श्रुत सेवा संस्थान, जयपुर(राज.)
एवं शाखा, इन्दौर (म.प्र.)

❑ मुद्रक : विकास आफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा
भोपाल - 462023
फोन : 0755-2601952, 9425005624

गुणोपदेश

श्री परम गुरवे नमो नमः

आचार्य श्रेष्ठ गुणभद्र स्वामी के श्री चरणों में भक्तत्रय पूर्वक सादर नमोऽस्तु 3

श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं– सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की रक्षा करने वाला यदि कोई है तो वह माँ जिनवाणी की आराधनारूप स्वाध्याय है, और वह गुरु उपदेश से प्राप्त होता है। मैंने भी गुरु आज्ञा का पालन करके सभी के लिए सम्यग्ज्ञान का साधन बनने का उपक्रम किया है।

मैंने गुरु मुख से ''आत्मानुशासन'' का स्वाध्याय सुना गुरु आज्ञा से गाथाओं को संकलन किया सो आप के बीच ''गुणोपदेश'' प्रस्तुत है।

गुरुदेव से यही प्रार्थना करते हैं कि मुझे सदा आज्ञा प्रदान करते रहें आचार्य भगवन् कि कृपा से मुझे इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का सौभाग्य मिला आगे भी इसी तरह की आज्ञा देते रहें जिससे मेरा ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप हो और केवलज्ञान का कारण बने।

इस पुनीत कार्य को गतिमान करने में डॉ. राखी जी, रायपुर का सहयोग रहा।

संघस्थ ह्रीं श्री माता जी, ब्र. तनु दीदी, ब्र. सुरभी दीदी आप सभी इसी तरह से सम्यक कार्यों में सहयोगी बने रहें।

प्रकाशन कर्ता परिवार को मंगल
आशीर्वाद
गुरु चरणों मैं नमोऽस्तु

क्षु. सिद्ध श्री माता जी
15/11/2019
बिलासपुर (छ.ग.)

आशीर्वाद

आचार्य विभवसागर

हमारी धर्मवत्सला मंत्र पुत्री स्वाध्याय शीला, श्रुताराधिका सुशिष्या क्षुल्लिका श्री 105 सिद्धश्री माता जी ने श्रुत भक्ति, गुरु भक्ति पूर्वक श्री आत्मानुशासन शास्त्र का गहन अध्ययन किया।

गुणभद्राचार्य के सरस, सरल, हृदयग्राही, मनोहारी हितकारी श्लोकों का चयन कर ''गुणोपदेश'' शास्त्र का संकलन किया। जिसके सम्पादन का सौभाग्य मुझे दिया। मैंने श्रुत सेवा का यह अनुष्ठान भक्तिभाव से किया। माता जी के लिए शुभाशीर्वाद।

यह सम्पादित कृति ''गुणोपदेश'' भव्य जीवों के हितार्थ तथा गुणभद्राचार्य के प्रति महान आदर भाव को प्रकट करने के लिए श्रुतप्रेमी दानवीर परिवार द्वारा प्रकाशित हो रहा उन्हें मेरा आशीर्वाद।

प्रकाशक संस्थान के लिए

शुभाशीष

निवाई

20.10.2019

प्रस्तावना

आचार्य विभवसागर

प्रस्तुत कृति "**गुणोपदेश**" आचार्य गुणभद्र स्वामी रचित आत्मानुशासन से संचित हैं। इसमें उपदेशात्मक भावों को दर्शाने वाले सहज, सरल, सुबोध, मधुर उपदेश शैली में निबद्ध श्लोकों का संकलन है। अतः ग्रन्थ का नाम गुणोपदेश है।

उद्देश्य :-

संकलन का मुख्य उद्देश्य आत्मानुशासन समागत महत्त्वपूर्ण, भावपूर्ण, सरलतम श्लोकों को संक्षिप्त लघूत्तम संग्रह कर बाल गोपाल में आचार्य गुणभद्र जी का बहुमान पूर्ण परिचय देना हैं। एवं रचना को जन-जन के कण्ठहार बना देना है। तथा अति आवश्यक महाग्रन्थ राज आत्मानुशासन के प्रति आकर्षित करना है।

कार्य :-

प्रस्तुत कार्य का भाव मेरे मानस पर अनेक बार आया। जिज्ञासा जागी कि पूज्यपादाचार्य के इष्टोपदेश को भांति यदि सरलतम संक्षेपतम कोई अन्य ग्रन्थ हों तो वह भी आदरणीय होंगे। फलतः हमारी स्वाध्यायशीला, संयम पुत्री क्षुल्लिका सिद्ध श्री माताजी ने यह कार्य किया।

श्री गुणभद्राचार्य जी- परिचय

परम प्रसिद्ध प्रकाण्ड महाविद्वान् दिगम्बर जैनाचार्यों में श्री गुणभद्राचार्य का नाम प्रधान है। आप प्रतिभाशाली श्रेष्ठ कवि थे और योग्य गुरु के योग्यतम शिष्य। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि ये सेनसंघ के आचार्य थे और 'महापुराण' व जयधवला के रचयिता भगवज्जिसेनाचार्य के शिष्य थे। आपके दादा गुरु का नाम वीरसेन है। आपने आचार्य दशरथ को भी अपना गुरु लिखा है, सम्भवतः ये इनके विद्या गुरु रहे होंगे।

गुणभद्राचार्य का निवास स्थान आरकट जिले का 'तिरुमरुंकुण्डल' नगर माना जाता है। कर्नाटक और महाराष्ट्र ही आपकी साधना भूमि रही है। इन्हीं प्रान्तों में रहकर आपने अपने साहित्य का प्रणयन किया है। आपके गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आचार्य जिनसेन कृत अधूरे महापुराण को आपने उनके पश्चात् उत्तरपुराण की रचना द्वारा पूर्ण किया। वास्तव में उत्तर-पुराण को भी वे स्वयं पूरा न कर सके और स्वर्ग सिधार गये तब उनके पश्चात् उनके सुयोग्य शिष्य लोकसेनाचार्य ने उसे पूरा किया। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में ४२ पद्य हैं जिनमें से आरम्भ के २७ पद्य गुणभद्रद्वारा विरचित और शेष २५ पद्म उनके शिष्य लोकसेन द्वारा विरचित माने जाते हैं। गुणभद्र स्वयं उत्तर पुराण

के रचना-काल के सम्बन्ध में मौन हैं पर ३२वें से ३६वें पद्य तक बतलाया गया है कि राष्ट्रकूट समस्त वनवास देश का शासन करते थे। उस समय शक सम्वत् ८२० में श्रावण कृष्णा पंचमी गुरुवार के दिन वह उत्तरपुराण पूर्ण हुआ और जनता ने इसकी पूजा की। अत: गुणभद्र का समय शक सम्वत् ८२० ई. सन् ८९८ अर्थात् नवमशती (ई.सन्) का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

गुणभद्र का सम्पूर्ण-जीवन साहित्य साधना में ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे। आपकी प्रसादगुण पूर्ण रचनायें बड़ी सहज और सरल हैं। आत्मानुशासन, जिनदत्तचारित काव्य, उत्तरपुराण और आदिपुराण (४३वें पर्व के चौथें पद्य से समाप्ति पर्यन्त कुल १६२० पद्य) आपकी रचनायें हैं।

साभार

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
	मंगलाचरण	01
1.	हितकारी पुरुष दुर्लभ	02
2.	धर्म का फल	03
3.	निर्दोष को सताना कायरता है	04
4.	विषयान्ध जीव की स्थिति	05
5.	आशागर्त का वर्णन	05
6.	भोगी, लालची को सम्बोधन	07
7.	आशावान का उदाहरण	08
8.	मोह अग्नि से बड़कर है।	10
9.	संसारी जीव की दुःखमय दशा	11
10.	सभी दुःखी, मुनि सुखी	12
11.	शरीर की नश्वरता का कथन	14
12.	नश्वर तन से भी मोक्ष लाभ	15
13.	प्रतिपल मरण की सूचना	16
14.	मनुष्य जीवन में सुख कहाँ ?	17
15.	मृत्यु नियामक है।	18
16.	मृत्यु निश्चित, समय, स्थान अनिश्चित	19
17.	मृत्यु से रक्षा चाहते तो मोक्ष में रहो	20
18.	काया में कब तक रहेगा?	21
19.	कुटुम्बीजन ही यथार्थ शत्रु	22

20.	आशा अग्नि, धन ईन्धन	23
21.	विवेकी प्रमाद न करे	24
22.	आकिञ्चन्य दशा प्रभुता कारक	25
23.	बाल ब्रह्मचारी श्रेष्ठ	26
24.	शरीर में निवास का प्रयोजन	27
25.	साधु जीवन का विकास क्रम	28
26.	ज्ञानी साधु दीपक समान	29
27.	जिनागम प्रभाव से शुभ से शुद्धतर भाव यात्रा	30
28.	तपानुराग और श्रुतानुराग करना श्रेष्ठ	31
29.	विषय राग पतन कारक	32
30.	स्त्री विष की तरह	33
31.	गुणक्षति अनर्थकारी	34
32.	सच्चा गुरु दोष बताता है।	35
33.	धर्म उपदेशक सुलभ, धर्म पालक दुर्लभ	37
34.	दोष, त्यागी, श्रेष्ठ त्यागी	38
35.	हिताहित विवेक	38
36.	न दीन बनो, न अभिमानी	39
37.	याचना मत करो	40
38.	दाता प्रशंसा, याचक निंदा	41
39.	धन कम हैं, याचक ज्यादा	42
40.	स्वाभिमान धन, श्रेष्ठ धन	43
41.	आशा का गड्ढ़ा, त्यागी ही भर सकता	44

42.	भोग की अपेक्षा त्याग श्रेष्ठ	45
43.	ज्ञानी साधुओं की प्रशंसा	47
44.	कर्म क्या करेगा, जिन्हें आशा नहीं	48
45.	वैभव त्यागकर तप करना श्रेष्ठ	49
46.	तप से शुद्धता	50
47.	वस्तु शाश्वत है	50
48.	वस्तु स्वरूप कथन	53
49.	आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला	55
50.	ज्ञान का फल केवलज्ञान	56
51.	शास्त्रज्ञान अग्नि की तरह शुद्ध करता है।	58
52.	ज्ञान प्रसार से राग-द्वेष निवारण	59
53.	जब तक राग-द्वेष, तब तक भव भ्रमण	60
54.	कर्म बन्ध त्याग विचार	62
55.	तत्त्व ज्ञान से मोक्ष	63
56.	पाप पुण्य रहित दशा मोक्ष	64
57.	ज्ञान अग्नि में मोह बीज जलादो	66
58.	मोह पुराना घाव है।	67
59.	शोक त्याग का उपदेश	68
60.	लाभ हानि में हर्ष विषाद न करने वाला ज्ञानी ही सुखी	69
61.	संन्यास ही सुख	70
62.	जन्मोत्सव नहीं मरण बोध	71
63.	शरीर अनर्थकारी	73

64.	कलिकाल का प्रभाव साधुओं पर	73
65.	वैराग्य हीन का गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ	74
66.	आत्मज्ञानी शरीर के रोग नहीं देखता	75
67.	अज्ञानी का सुख कैसा?	76
68.	अनुद्वेग ही प्रतीकार	77
69.	शरीर से मोह त्यागो	77
70.	तप न कर सको, तो कषाय जीतो	78
71.	माया भाव गड्ढा है	79
72.	समता तीसरा चरण	80
73.	प्रवृत्ति निवृत्ति विचार कब?	80
74.	शुभत्याग और, शुद्ध ग्रहण उपदेश	81
75.	ममत्व भाव दुःखकारक	83
76.	भ्रमवश भटकता रहा	84
77.	बन्ध और मोक्ष अपने-अपने भावानुसार	85
78.	योगी का स्वरूप	86
79.	तप रूप तालाब की रक्षा करो	87
80.	दोष कथन ही सदोष भोजन है।	88
81.	योगी जीवन का चित्रण	89
82.	योगी का चिंतन	90
83.	मोह नाशक ही श्रेष्ठ पुरुष	90
84.	गुणी-गुणमय ही रहता	91
85.	आत्मा कैसा है?	93
86.	सिद्धों का सुख	94
87.	अन्तिम मंगल	95

मंगलाचरण

लक्ष्मीनिवासनिलयं, विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं, वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम्॥ 1 ॥

अर्थः- मैं शास्त्रकर्त्ता गुणभद्र, वीर कहिये वर्द्धमान तीर्थंकर देव अथवा कर्मरूपी शत्रु का नाश करने में समर्थ सुभट अथवा विशिष्ट कहिये लक्ष्मी, उसे 'रति' कहिये ग्रहण करे, ऐसे सर्व अरहन्तादिकों को अपने हृदय में अवधारण कर आत्मा को हित रूप शिक्षा देनेवाला 'आत्मानुशासन' नाम का शास्त्र कहता हूँ।

1. हितकारी पुरुष दुर्लभ

जना घनाश्च वाचालाः,सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते, जगदभ्युज्जिहीर्षवः।।

अर्थ– जिनका उत्थान व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं।

विशेषार्थ– जो मेघ गरजते तो है, किन्तु जलहीन होने से बरसते नहीं हैं, वे सरलता से पाये जाते हैं। परन्तु जो जल से परिपूर्ण होकर वर्षा करने के उन्मुख हैं वे दुर्लभ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकार से जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रा में प्राप्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियों को उससे उद्धार करने वाले सदुपदेश को करते हैं वे कठिनता से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे ही उपदेश का प्रयत्न सफल होता है।।

2. धर्म का फल

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यससंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते।।

अर्थ– कल्पवृक्ष का फल संकल्प (प्रार्थना) के अनुसार होता है। तथा चिन्तामणि का भी फल चिन्ता (मनकृतविचार) के अनुसार प्राप्त होता है। परन्तु धर्म से जो फल प्राप्त होता है। वह अप्रार्थित एवं अचिन्त्य ही प्राप्त होता है।

विशेषार्थ– लोक में कल्पवृक्ष और चिन्तामणी अभिष्ट फल के देने वाले माने जाते हैं। परन्तु कल्पवृक्ष जहाँ वचन द्वारा की गई प्रार्थना के अनुसार अभीष्ट फल देता है वहाँ चिन्तामणि मन की कल्पना के अनुसार वह फल देता है। किन्तु धर्म एक ऐसा अपूर्व पदार्थ है कि जिससे अभीष्ट फल प्राप्ति के लिये न किसी प्रकार की याचना करनी पड़ती हैं और न मन में कल्पना भी। तात्पर्य यह है कि धर्म का आचरण करने से प्राणी को स्वयमेव ही अभीष्ट सुख प्राप्त होता है। जैसे यदि मनुष्य सघन वृक्ष के नीचे पहुँचता है तो उसे उसकी छाया स्वयमेव प्राप्त होती है। उसके लिये वृक्ष से कुछ याचना आदि नहीं करनी पड़ती।।

3. निर्दोष को सताना कायरता है

भीतमूर्तीर्गतत्राणा, निर्दोषा देहवित्तिकाः।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति, मृगीरन्येषु का कथा।।

अर्थ– जिन हिरणियों का शरीर सदा भय से काँपता रहता है, जिनका वन में कोई रक्षक नहीं हैं, जो किसी का अपराध (अनिष्ट) नहीं करती हैं, जिनके एक मात्र अपने शरीर को छोड़कर दूसरा कोई धन नहीं हैं, तथा जो दाँतों के बीच में अटके हुए तृणों को धारण करती हैं, ऐसी हिरणियों का भी घात करने से जब शिकारी जन नहीं चूकते हैं तब भला दूसरे (सापराध) प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है? अर्थात् उनका घात तो वे करेंगे ही।

विशेषार्थ– यह प्रायः लोक में प्रसिद्ध ही है कि सच्चे शूर–वीर युद्ध नीति के अनुसार ऐसे किसी भी प्राणी के ऊपर शस्त्र का प्रहार नहीं करते हैं जो कि कायरता को प्रगट कर रहा हो, अरक्षित हो, निपराध हो।

4. विषयान्ध जीव की स्थिति

अन्धादयं महानन्धो, विषयान्धीकृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति, विषयान्धो न केनचित्।।

अर्थ– जिसके नेत्र इन्द्रिय विषयों के द्वारा अन्धे कर दिये गये हैं अर्थात् विषयों में मुग्ध रहने से जिसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस लोक प्रसिद्ध अन्धे से भी अधिक अन्धा हैं, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षु के ही द्वारा नहीं जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तु स्वरूप को ही नहीं जान पाता हैं।

5. आशागर्त का वर्णन

आशागर्तः प्रतिप्राणि, यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।।

अर्थ– आशारूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणी के भीतर स्थित है जिसमें कि विश्व परमाणु के बराबर प्रतीत होता है। फिर उसमें किसके लिए क्या और कितना आ सकता है ? अर्थात् प्रायः नहीं के समान ही कुछ

आ सकता है। अतएव हे भव्यजीवों ! तुम्हारी इन विषयों की अभिलाषा व्यर्थ हैं।

विशेषार्थ– अभिप्राय इसका यह है कि प्रत्येक प्राणी की तृष्णा इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि समस्त विश्व की सम्पत्ति भी यदि उसे प्राप्त हो जाये तो भी उसकी वह तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती हैं। फिर भला जरा विचार तो कीजिये कि प्राणी तो अनन्त हैं और उनमें से प्रत्येक की विषय तृष्णा उसी प्रकार से वृद्धिगत है। ऐसी अवस्था में यदि विश्व की समस्त सम्पत्ति को भी उनमें विभाजित किया जाये तो उसमें से प्रत्येक प्राणी के लिये जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह नगण्य ही होगा। अतएव यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि जब प्राणी की विषय तृष्णा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, बल्कि वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। तब उन विषयों की इच्छा करना ही व्यर्थ हैं।

6. भोगी, लालची को सम्बोधन

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं, मुखादवशिनष्टि यत्।
तत्तस्या शक्तितो भोक्तुं, वितनोर्भानुसोमवत्।।

अर्थ– तृष्णा की निवृत्ति से रहित अर्थात् अधिक तृष्णा से युक्त होकर भी तेरे मुख से जो सब जगत् अवशिष्ट बचा है वह तेरी भोगने की शक्ति न रहने से ही शेष रहा है। जैसे–राहु के मुख से शेष रहे सूर्य और चन्द्र।

विशेषार्थ– जिस प्रकार यद्यपि राहु सूर्य और चन्द्र को पूर्ण ग्रास ही करना चाहता है, फिर भी जो उनका भाग शेष बचा रहता है वह उसकी शक्ति के कारण ही बचा रहता है,उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की तृष्णा तो इतनी अधिक होती है कि वह समस्त जगत् को ही स्वाधीन करना चाहता हैं फिर भी जो समस्त जगत् उसके स्वाधीन नहीं हो पाता है उसमें उसकी अशक्ति कारण है, न कि विषय–तृष्णा की न्यूनता।

7. आशावान का उदाहरण

आशाहुताशनग्रस्त,वस्तूच्चैर्वंशजां जनाः।
हा किलैत्य सुखच्छायां, दुःखघर्मापनोदिनः।।

अर्थ– खेद हैं कि अज्ञानी प्राणी आशारूप अग्नि से व्याप्त भोगोपभोग वस्तुओं रूप ऊँचे वाँसों से उत्पन्न हुई अग्नि में सुख छाया (सुखाभास=दुःख) को प्राप्त करके दुखःरूप सन्ताप को दूर करना चाहते हैं।

विशेषार्थ – जो अज्ञानी प्राणी विषय तृष्णा के वश होते हुए अर्थात् भोगोपभोग वस्तुओं को प्राप्त करके यथार्थ सुख प्राप्त करना चाहते हैं उनका यह प्रयत्न इस प्रकार का है जिस प्रकार कि सूर्य के ताप से पीड़ित होकर कोई मनुष्य उस संताप को दूर करने के लिए अग्नि से जलते हुए ऊँचे वाँसों की छाया को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो ऊँचे वाँसों की कुछ उपयुक्त छाया ही नहीं पड़ती है, दूसरे वे अग्नि से जल भी रहे हैं, अतएव ऐसे वाँसों की छाया का आश्रय लेने वाले प्राणी का वह संताप जिस प्रकार नष्ट न होकर और अधिक बढ़ता ही है उसी प्रकार विषय तृष्णा को शान्त करने की अभिलाषा से जो प्राणी इष्ट सामग्री के संचय में प्रवृत्त होता है इससे उसकी वह तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही है, परन्तु कम नहीं होती। जैसा कि समन्तभद्र

स्वामी ने भी कहा है –

तृष्णार्चिशः परिदहन्ति न शान्तिराशा।
मिष्टेन्द्रियार्थ विभवैः परिवृद्धि रेव।।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्ता।
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ् मुखोऽभूत्।।
वृ.स्व. 82

अर्थ– विषयतृष्णारूप अग्नि की ज्वालायें प्राणी को सब ओर से जलाती हैं। इनकी शान्ति इन्द्रिय विषयों की वृद्धि से नहीं होती बल्कि उससे तो वे और भी अधिक बढ़ती हैं। यह उस तृष्णा का स्वभाव ही है। प्राप्त हुए इष्ट इन्द्रियविषय कुछ थोड़े से समय के लिए केवल शरीर के संताप को दूर कर सकते हैं। इस प्रकार विचार करके हे जितेन्द्रिय कुन्थु जिनेन्द्र! आप चक्रवर्ती की विभूति को छोड़कर उस विषयजन्य सुख से पराङ्मुख हुए हैं।

8. मोह अग्नि से बड़कर है।

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः, प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चै, रहो मोहाग्निरुत्कटः।।

अर्थ– अग्नि ईन्धन को पाकर जलती है और उससे रहित होकर बुझ जाती है। परन्तु आश्चर्य है कि तीव्र मोहरूपी अग्नि दोनों भी प्रकार से ऊँची (अतिशय) जलती है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार अग्नि प्राणी को संतप्त करती है उसी प्रकार मोह भी राग–द्वेष उत्पन्न करके प्राणी को संतप्त करता है। इसीलिये मोह को अग्नि की उपमा दी जाती है। परन्तु विचार करने पर वह मोहरूप अग्नि उस स्वाभाविक अग्नि की उपेक्षा भी अतिशय भयानक सिद्ध होती हैं। कारण यह है कि अग्नि को ईन्धन मिलता है। तभी तक प्रदीप्त होकर प्राणी को संतप्त करती है। ईन्धन के न रहने पर वह स्वमेव शान्त हो जाती है। किन्तु वह मोहरूप अग्नि ईन्धन (विषयभोग) के रहने पर भी संतप्त करती है और उसके न रहने पर भी संतप्त करती है। अभिप्राय यह है कि जैसे–जैसे अभीष्ट विषय प्राप्त होते जाते हैं वैसे–वैसे ही कामी जनों की वह विषयतृष्णा उत्तरोत्तर और भी बढ़ती जाती है जिससे कि उन्हें कभी

आनन्दजनक संतोष नहीं प्राप्त हो पाता। इसके विपरीत इच्छित विषयसामग्री के न मिलने पर भी वह दुःखदायक तृष्णा शान्त नहीं होती। इस प्रकार यह विषय तृष्णा उक्त दोनों ही अवस्थाओं में प्राणी को संतप्त किया करती है।

9. संसारी जीव की दुःखमय दशा

दीप्तो भयाग्रवातारि,दारुदरगकीटवत्।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे, शरीरे वत सीदसि।।

अर्थ– हे भव्यजीव ! जिसके दोनों अग्रभाग अग्नि से जल रहे हैं ऐसी एरण्ड (अण्डा) की लकड़ी के भीतर स्थित कीड़े के समान और मृत्यु से व्याप्त शरीर में स्थित होकर तू दुःख पा रहा है, यह खेद की बात हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार दोनों ओर से जलती है हुई पोली लकड़ी के भीतर स्थित कीड़े का मरण अवश्य होने वाला है। उसी प्रकार जन्म और मरण से संयुक्त इस शरीर में स्थित रहने पर प्राणी का भी अहित अवश्य होने वाला है। इसीलिये कल्याण के अभिलाषी भव्यजीव शरीर से निर्ममत्व होकर रत्नत्रय की प्राप्ति पूर्वक उसे छोड़ने का ही प्रयत्न करते हैं।

10. सभी दुःखी, मुनि सुखी

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति, परमेको मुनिः सुखी।।
परायत्तात् सुखाद् दुःखं, स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः, कथमासंस्तपस्विनः।।

अर्थ– धनाभिलाषी निर्धन मनुष्य तो धन को न पाकर दुःखी होते हैं और धनवान् मनुष्य सन्तोष के न रहने से दुःखी होते हैं। इस प्रकार खेद है कि सब ही (धनी और निर्धन भी) प्राणी दुःख का अनुभव करते हैं। यदि कोई सुखी है तो केवल एक सन्तोषी (तृष्णा से रहित) मुनि ही सुखी है। धनवानों का सुख पराधीन है। उस पराधीन सुख की अपेक्षा तो आत्माधीन दुःख अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये गये अनशन आदि के द्वारा होने वाला दुःख ही अच्छा है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर तपश्चरण करने वाले साधु जन 'सुखी' इस नाम से युक्त कैंसे हो सकते थे? अर्थात् नहीं हो सकते थे।

विशेषार्थ– यदि विचार कर देखा जाये तो संसार में कोई भी प्राणी सुखी नहीं है प्रायः सब ही दुःखी हैं। उनमें

10. आ.शा./65,66

निर्धन जन तो इसलिये दुःखी हैं कि बिना धन के वे अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाते हैं। इसलिये वे उनकी पूर्ति के योग्य धन को प्राप्त करने के लिये निरन्तर चिन्तातुर रहते हैं, परन्तु वह उन्हें प्राप्त होता नहीं है। इसके अतिरिक्त वे जब अपने सामने धनवानों के (रहन–सहन) को देखते हैं तो इससे उन्हें ईर्ष्या होती हैं, इस कारण भी वे सदा संतृप्त रहते हैं। इससे यदि कोई यह सोचे कि धनवान मनुष्य सुखी रहते होंगे सो भी बात नहीं हैं–वे भी दुखी ही रहते हैं। उनके दुःख का कारण असन्तोष–उत्तरोत्तर बढ़ने वाली तृष्णा है। उन्हें इच्छानुसार कितनी भी अधिक धन–सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे फिर भी उन्हें उतने से सन्तोष नहीं प्राप्त होता– उससे भी अधिक की चाह उन्हें निरन्तर बनी रहती है। इससे ज्ञात होता है। कि जिस प्रकार धन सुख का कारण नहीं है उसी प्रकार निर्धनता दुःख का भी कारण नहीं है। **सुख का कारण वास्तव में सन्तोष और दुःख का कारण असन्तोष (तृष्णा) है।** यही कारण है जो साधु जन सब प्रकार के धन से रहित होकर भी एक मात्र उसी सन्तोष धन से अतिशय सुखी, तथा चिन्ताकुल धनवान् भी मनुष्य अतिशय दुःखी देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह जो विषयजनित सुख है वह पराधीन है– वह उसके योग्य पुण्य एवं धन आदि को उपेक्षा रखता है। जब ऐसे पुण्य आदि का संयोग होगा तब ही वह सुख प्राणी को

प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त पराधीन होने से वह चिरस्थायी भी नहीं है– थोड़े ही समय तक रहने वाला है। अतएव जहाँ पराधीनता नहीं है उसे ही वास्तविक सुख समझना चाहिए। उस पराधीन सुख की अपेक्षा तो स्वतन्त्रता से आचरित अनशनादि तपों से उत्पन्न होने वाला दुःख भी कहीं अच्छा है, क्योंकि उससे भविष्य में स्वाधीन सुख प्राप्त होने वाला है। परन्तु वह पराधीन क्षणिक सुख होकर दुःख का कारण होने से वास्तव में दुःख ही है।

11. शरीर की नश्वरता का कथन

उपायकोटिदूरक्षे, स्वतस्तत इतोऽन्यतः।
सर्वतः पतनप्राये, काये कोऽयं तवाग्रहः।।

अर्थ– करोड़ों उपायों को करके भी जिस शरीर का रक्षण न स्वयं किया जा सकता है और अन्य किसी के द्वारा कराया जा सकता है, किन्तु जो सब प्रकार से नष्ट ही होने वाला है, उस शरीर की रक्षा के विषय में तेरा कौन सा आग्रह है ? अर्थात् जब किसी भी प्रकार से उक्त शरीर की रक्षा नहीं की जा सकती है। तब हठपूर्वक सब प्रकार से उसकी रक्षा का प्रयत्न करना निरर्थक हैं।

11. आ.शा./69

12. नश्वर तन से भी मोक्ष लाभ

अवश्यं नश्वरैरेभि, रायुः कायादिभिर्यदि।
शाश्वतं पदमायाति, मुधायातमवेहि ते।।

अर्थ– इसीलिये यदि अवश्य नष्ट होने वाले इन आयु और शरीर आदि को के द्वारा मुझे अविनश्वर पद (मोक्ष) प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ।

12. आ.शा./70

13. प्रतिपल मरण की सूचना

गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासै,रभ्यस्यत्येष संततम्।
लोकः पृथगितो, वाञ्छत्, यात्मानमजरामरम्।।

अर्थ– यह जीव निरन्तर उच्छ्वास और निःश्वासों के द्वारा जाने का अभ्यास करता है। परन्तु अज्ञानी जन उन उच्छ्वास और निःश्वासों के द्वारा आत्मा को अजर–अमर अर्थात् जरा और मरण से रहित मानता है।

विशेषार्थ – अभिप्राय यह है कि जिस क्रम से प्राणी के उच्छ्वास और निःश्वास निकलते हैं उसी क्रम से उसकी पूर्वबद्ध आयु (जीवित) कम होती जाती है। फिर भी बहुत से प्राणी अज्ञानवश यह समझते हैं कि उन उच्छ्वास निःश्वासों को जितना अधिक रोका जा सकेगा उतनी ही अधिक आयु बढ़ेगी तथा इस प्रकार से प्राणी वृद्धत्व से भी रहित होगा। यह उनका मानना अज्ञानता से परिपूर्ण है, यही यहाँ सूचित किया गया है।

14. मनुष्य जीवन में सुख कहाँ ?

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद्, दुःखमेषोऽत्र जीवितम्।
तद्विरामो भवेन्मृत्यु, र्नृणां भण कुतः सुखम्।।

अर्थ– उच्छ्वास कष्ट से उत्पन्न होने के कारण दुःख रूप है और यह उच्छ्वास ही यहाँ जीवन है। तथा उसका विनाश ही मरण है। फिर बतलाइये कि मनुष्यों को सुख कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि श्वासोच्छ्वास का चालू रहना, यह तो जीवन है। सो वह श्वासोच्छ्वास चूँकि कष्ट से उत्पन्न होता है अतएव इससे समस्त जीवन ही दुखमय हो जाता है और उस श्वासोच्छ्वास के नष्ट हो जाने पर जब मरण अनिवार्य है तब उसके पश्चात् सुख भोगने वाला रहेगा कौन ? इस प्रकार संसार में सर्वदा दुःख ही है।

15. मृत्यु नियामक है।

जन्मतालद्रुमाज्जन्तु, फलानि प्रच्युतान्यधः।
अप्राप्य मृत्युभूभाग, मन्तरे स्युः, कियच्चिरम्।।

अर्थ– जन्मरूप ताड़ के वृक्ष से नीचे गिरे हुए प्राणी रूप फल मृत्युरूप पृथिवी तल को न प्राप्त होकर अन्तराल में कितने काल रह सकते हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार ऊँचे ताड़ वृक्ष से नीचे गिरे हुए फल क्षण मात्र अन्तराल में रहकर निश्चित ही पृथ्वी तल का आश्रय ले लेते हैं उसी प्रकार ताड़ वृक्ष के समान जन्म से उत्पन्न होने वाले प्राणी अल्पकाल ही बीच में रहकर निश्चित से इस पृथ्वी तल के समान मृत्यु को प्राप्त करते ही हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वृक्ष से गिरा हुआ फल पृथ्वी के ऊपर गिरता है उसी प्रकार जो प्राणी जन्म लेते हैं वे मरते भी अवश्य हैं–स्थिर रहने वाला कोई भी नहीं हैं।

16. मृत्यु निश्चित, समय, स्थान अनिश्चित

कदा कथं कुतः कस्मिन्, नित्यतर्क्यःखलोऽन्तकः।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं,यतध्वं श्रेयसे बुधाः।।

अर्थ– जिस काल के विषय में कब वह आता हैं? कैसे आता है? कहाँ से आता है? और कहाँ पर आता है? इस प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता है वह दुष्ट काल प्राप्त तो होता ही हैं। फिर हे विद्वानों! आप निश्चिंत क्यों बैठे हैं? अपने कल्याण के लिए प्रयत्न कीजिये। अभिप्राय यह है कि प्राणी के मरण का न तो कोई समय ही नियत है। और न स्थान भी। अतएव विवेकी जन को सदा सावधान रहकर आत्महित में प्रवृत्त रहना चाहिए।

16. आ.शा./78

17. मृत्यु से रक्षा चाहते तो मोक्ष में रहो

असामवायिकं मृत्यो, रेकमालोक्य कंचन।
देशंकालं विधिं हेतुं, निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः।।

अर्थ– मृत्यु से सम्बन्ध न रखने वाले को किसी एक देश को, काल को, विधान को और कारण को देखकर प्राणी निश्चिन्त हो जावें।

विशेषार्थ– पूर्व श्लोक में यह बतलाया गया है कि प्राणी का मरण कब? कहाँ? और किस प्रकार से होगा, इस प्रकार जब कोई नहीं जान सकता है तब विवेकी जीवों को यों ही निश्चिन्त होकर नहीं बैठना चाहिये, किन्तु उससे आत्मरक्षा का कुछ प्रयत्न करना चाहिये। इस पर शंका हो सकती थी कि जब उसके काल और स्थान आदि का पता ही नहीं है, तब भला उसका प्रतीकार करके आत्मरक्षा की ही कैसे जा सकती हैं? इसके उत्तरस्वरूप यहाँ यह बतलाया है कि यदि उस काल मरण के स्थान आदि का पता नहीं है तो न रहे, किन्तु हे प्राणी! ऐसे किसी सुरक्षित स्थान को प्राप्त कर ले जहाँ कि वह पहुँच ही नहीं सकता हो। ऐसा करने से उसका प्रतीकार करने के बिना ही तेरी रक्षा अपने आप हो जावेगी। ऐसे सुरक्षित स्थान का

17. आ.शा./79

विचार करने पर वह केवल मोक्षपद ही ऐसा दिखता है जहाँ कि मृत्यु का वश नहीं चलता। अतएव बाह्य वस्तुओं में इष्टानिष्ट की कल्पना को छोड़कर मोक्षमार्ग में ही प्रवृत्त होना चाहिए इसी में जीव का आत्मकल्याण हैं।

18. काया में कब तक रहेगा?

प्रसुप्तो मरणाशंकां, प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयन्नेष, तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्।।

अर्थ– जब प्राणी सोता तब वह मृतवत् होकर मरने की आशंका उत्पन्न करता है और जब जागृत रहता है तब जीने के उत्सव को करता है। इस प्रकार प्रतिदिन आचरण करने वाला यह प्राणी कितने काल तक उस शरीर में रह सकेगा? अर्थात् बहुत ही थोड़े समय तक रह सकता है, पश्चात् उस शरीर को छोड़ना ही पड़ेगा।

18. आ.शा./82

19. कुटुम्बीजन ही यथार्थ शत्रु

जन्मसंतान संपादि, विवाहादि विधायिनः।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राण, हारिणो न परे परे।।

अर्थ– जो कुटुम्बी जन जन्म–परम्परा (संसार) को बढ़ाने वाले विवाहादि को करते हैं वे इस जीव के शत्रु हैं, दूसरे जो एक ही बार प्राणों का अपहरण करने वाले हैं वे यथार्थ में शत्रु नहीं हैं।

विशेषार्थ– जो अपना अहित करे वही वास्तव में शत्रु है– किन्तु जिसे प्राणी शत्रु मानता है वह सचमुच में शत्रु नहीं हैं। कारण यह है कि यदि वह अधिक से अधिक अहित करेगा तो केवल एक बार प्राणों का वियोग कर सकता है, इससे अधिक वह और कुछ नहीं कर सकता हैं। किन्तु जो कुटुम्बीजन विवाहादि को करके प्राणी को संसार वृद्धि के कारणों में प्रवृत्त करते हैं वास्तविक शत्रु तो वो ही हैं, क्योंकि उनके द्वारा अनेक भवों का घात होने वाला है – राग द्वेषादि की वृद्धि के कारण होने से वे अनेक भवों को दुःखमय बनाने वाले हैं।

20. आशा अग्नि, धन ईंधन

धनेरेन्धन संभारं, प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः, शान्तं संधुक्षणे क्षणे।।

अर्थ– आशा (विषयतृष्णा) रूप अग्नि में धनरूप ईन्धन समूह को डालकर भ्रान्ति को प्राप्त हुआ प्राणी उस जलती हुई आशारुप अग्नि को जलने के समय में शान्त मानता हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार अग्नि में ईन्धन के डालने से वह उत्तरोतर बढ़ती ही है–कम नहीं होती उसी प्रकार अधिक अधिक धन के संचय से यह तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं – कम नहीं होती। अग्नि जब ईन्धन को पाकर अधिक भड़क उठती हैं तब मूर्ख से मूर्ख प्राणी भी उसे शान्त नहीं मानता। परन्तु आश्चर्य हैं कि विषय साम्रगी रूप ईन्धन को पाकर उस तृष्णा रूप अग्नि के भड़क उठने पर भी यह प्राणी उसे (विषयतृष्णाठिन) को और उसमें जलते हुए अपने को भी शान्त मानता है। यह उसकी बड़ी अज्ञानता है।

21. विवेकी प्रमाद न करे।

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा साऽन्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति, तेशोच्याः खलु धीमताम्।।

अर्थ– प्रथम तो हिताहितका विचार करने रूप बुद्धि ही दुर्लभ है, फिर वह पर भव के हित का विवेक तो और भी दुर्लभ है। उस विवेक को प्राप्त करके भी जो जीव प्रमाद करते हैं। वे बुद्धिमानों के लिए सोचनीय होते हैं।

विशेषार्थ– संसार में एकेन्द्रिय आदि को लेकर चौइन्द्रिय तक सब ही प्राणी मन से रहित होते हैं, इसीलिये उन्हें विचारात्मक बोध ही नहीं प्राप्त होता है। पंचेन्द्रियों में भी सभी जीवों के मन नहीं होता कुछ के ही होता है। जिनके वह होता है। उनको भी प्रायः आत्महित का विवेक नहीं रहता। फिर जो आत्महित का विवेक होने पर भी तदानुरूप आचरण करने में असावधान रहते हैं उनके ऊपर बुद्धिमानों को खेद होता है। कारण यह कि वे उपयुक्त साम्रगी को प्राप्त करके भी हित के मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते और इस प्रकार से उक्त सामग्री के विनष्ट हो जाने पर फिर उसका पुनः प्राप्त होना कठिन ही हैं।

21. आ.शा./94

22. आकिंचन्य दशा प्रभुता कारक

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः।।

अर्थ– हे भव्य ! मेरा कुछ नहीं है ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (मुक्त) हो जायेगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य (स्वरूप) बतला दिया है जो केवल योगियों के द्वारा प्राप्त करने के योग्य या उनके ही अनुभव का विषय हैं।

विशेषार्थ – अभिप्राय यह है कि पर पदार्थों को अपना समझकर जब तक जीव का उनमें ममत्व भाव रहता है तब तक वह राग–द्वेष से परिणत होकर कर्मों को बांधता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। और जैसे ही उसका पर पदार्थों से वह ममत्वभाव हटता है वैसे ही वह निर्ममत्व होकर आत्मस्वरूप का चिंतन करता हुआ स्वयं भी परमात्मा बन जाता हैं।

23. बाल ब्रह्मचारी श्रेष्ठ

अभुक्त्वापि परित्यागात्, स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै, कौमारब्रह्मचारिणे।।

अर्थ– आश्चर्य है कि जिसने स्वयं न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्ट रूप विश्व को उपभोग कराया है उस बाल ब्रह्मचारी के लिए नमस्कार हो।

विशेषार्थ– जिसने राज्यलक्ष्मी आदि के भोगने का अवसर प्राप्त होने पर भी उसे नहीं भोगा और तुच्छ समझ कर यों ही छोड़ दिया है वह सर्वोत्कृष्ट त्यागी माना गया है। जैसे किसी को पहिले कुमारियों ने वरण कर लिया है, परन्तु पश्चात् उसने उनके साथ विवाह न करके ब्रह्मचर्य को ही स्वीकार किया हो वह बाल– ब्रह्मचारी उत्कृष्ट ब्रह्मचारी गिना गया है। यहाँ ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट त्यागी को नमस्कार किया गया है कि जिसने लक्ष्मी के उपभोग का अवसर प्राप्त होने पर भी उसे नहीं भोगा, किन्तु जो बाल ब्रह्मचारी के समान उससे अलिप्त रहा है। यहाँ इस बात पर आश्चर्य भी प्रगट किया गया हैं। कि लोक में कोई भी उच्छिष्ट (उल्टी या वांति) का उपभोग नहीं करता, परन्तु ऐसे महापुरुषों ने अपने उच्छिष्ट– बिना

23. आ.शा./109

भोगे ही छोड़ी गई राज्यलक्ष्मी आदि का – भी दूसरों को उपभोग कराया। तात्पर्य यह कि जो महापुरुष राज्यलक्ष्मी आदि का अनुभव न करके पहिले ही उसे छोड़ देते हैं वे अतिशय प्रशंसनीय हैं। तथा इसके विपरीत जो अविवेकी जन उनके द्वारा तृणवत् छोड़ी गई उक्त राज्यलक्ष्मी को भोगने के लिए उत्सुक रहते हैं वे अतिशय निंदनीय हैं।

24. शरीर में निवास का प्रयोजन

क्षणार्धमपि देहेन, साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्ठमादाय, न स्याद्बोधो निरोधकः।।

अर्थ– यदि ज्ञान पोंचे (हथेली के ऊपर का भाग) को ग्रहण करके रोकने वाले न होते तो कौन सा विवेकी जीव उस शरीर के साथ आधे क्षण के लिये भी रहन–सहन करता ? अर्थात् नहीं करता।

विशेषार्थ– प्राणी जो अनेक प्रकार के दुःखों को सहता है कि केवल शरीर के ही संबंध से सहता है, इसीलिये कोई भी विवेकी जीव क्षण–भर भी उसके साथ नहीं रहना चाहता है। फिर भी जो वह उसके साथ रहता है, इसका कारण उसका उपर्युक्त (अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि विषयक) विचार ही हैं।

24. आ.शा./117

25. साधु जीवन का विकास–क्रम

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात्, प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्ताप प्रकाशाभ्यां,भास्वानिव हि भासताम्॥

अर्थ– साधु पहिले दीपक के समान प्रकाश प्रधान होता है। तत्पश्चात् वह सूर्य के समान ताप और प्रकाश से संयुक्त दोनों से शोभायमान् होता हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार दीपक केवल प्रकाश से संयुक्त होकर घट–पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार साधु भी प्रारंभ में ज्ञानरूप प्रकाश से संयुक्त होकर स्व और पर के स्वरूप को प्रकाशित करता है। यद्यपि इस समय उसके प्रकाश (ज्ञान) के साथ ही कुछ तप का तेज भी अवश्य रहता है फिर भी उस समय उसकी प्रधानता नहीं होती जिस प्रकार कि ताप की दीपक में। परन्तु आगे की अवस्था में उसका वह प्रकाश (ज्ञान) सूर्य के प्रकाश के समान समस्त पदार्थों का प्रकाशक हो जाता है। इस अवस्था में उस के जैसे प्रकाश की प्रधानता होती है वैसे ही तेज (तपश्चरण) की भी प्रधानता हो जाती है।

25. आ.शा./120

26. ज्ञानी साधु दीपक समान

भूत्वा दीपोपमो धीमान्, ज्ञान चारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष, प्रोद्वमन्कर्म कज्जलम्।।

अर्थ– वह बुद्धिमान साधु दीपक के समान होकर ज्ञान और चरित्र से प्रकाशमान होता है। तब वह कर्मरूप काजल को उगलता हुआ स्व के साथ पर को प्रकाशित करता है–

विशेषार्थ– जिस प्रकार दीपक प्रकाश और तेज से युक्त होकर काजल को छोड़ता है और घट– पटादि पदार्थों को प्रगट करता है उसी प्रकार साधु भी ज्ञान और चारित्र से दीप्त होकर कर्म की निर्जरा करता है तथा आत्म परस्वरूप को जानता भी है।

26. आ.शा./121

27. जिनागम प्रभाव से शुभ से शुद्धतर भाव यात्रा

अशुभाच्छभमायातः, शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य, तमसो न समुद्गमः।।

अर्थ– यह आराधक भव्यजीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभस्वरूप असंयम अवस्था से शुभरूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्म–मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है– सूर्य जब तक सन्ध्या (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं करता हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार सूर्य प्रथमतः रात्रि के अन्धकार से निकलकर प्रभात– काल को प्राप्त करता है, इसी प्रकार आराधक भी पहिले रात्रिगत अन्धकार के समान अशुभ से निकलकर प्रभात के समान शुभ (सरागसंयम) को प्राप्त करता है और तब फिर कहीं कर्मकलंकरूप अन्धकार से रहित होता है। अभिप्राय यह है कि प्राणी का आचरण पूर्व में प्रायः असमय प्रधान रहता है, तत्पश्चात् वह यथाशक्ति असंयममय प्रवृत्ति को छोड़कर संयम के

27. आ.शा./122

मार्ग में प्रवृत्त होता है। यह हुई उसकी अशुभ से शुभ में प्रवृत्ति। यद्यपि कर्मबन्ध (पराधीनता) की अपेक्षा इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है, फिर भी जहाँ अशुभ से पाप कर्म का बन्ध होता है वहाँ शुभ से पुण्य कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार से उसे शुद्ध होने की साधन साम्रगी उपलब्ध होने लगती है। जो कि पाप बन्ध के होने पर असम्भव ही रहती है। उदाहरण के रूप में जैसे प्रभात–काल में यद्यपि रात्रिगत अन्धकार की सघनता नहीं होती है, फिर भी कुछ अंश में तब भी अन्धकार रहता है, पूर्ण अंधकार का विनाश तो दिन में ही हो पाता है। इस प्रकार वह शुभ में स्थित रहकर अन्त में अपने शुद्ध स्वरूप को भी प्राप्त कर लेता हैं।

28. तपानुराग और श्रुतानुराग करना श्रेष्ठ

विधूततमसो रागस्,तपः श्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य, जन्तोरभ्युदयाय सः।।

अर्थ– अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिये होता हैं।

28. आ.शा./123

विशेषार्थ– जिस प्रकार प्रभातकाल में उदित होने वाले सूर्य की लालिमा उसकी अभिवृद्धि का कारण होती है उसकी प्रकार अज्ञान से रहित हुए विवेकी जीव का भी तप एवं श्रुत से सम्बद्ध अनुराग उसकी अभिवृद्धि का –स्वर्ग–मोक्ष की प्राप्ति का कारण होता है। जो अनुराग हानि (दुर्गति) का कारण होता है वह अज्ञानी का ही होता और वह भी विषय भोग विषयक अनुराग विवेकी (सम्यग्दृष्टि) जीव का वह तप आदि विषयक अनुराग कभी हानि का कारण नहीं हो सकता हैं।

29. विषय राग पतन कारक

विहाय व्याप्तमालोकं, पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन्, पातालतलमृच्छति।।

अर्थ– जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता हैं अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञानरूप प्रकाश को छोड़कर अज्ञान को स्वीकार करता हुआ राग (विषयवांछ) को प्राप्त होता है वह पातालतल को–नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

29. आ.शा./124

विशेषार्थ– सूर्य जिस प्रकार प्रभात समय में लालिमा को धारण करता है उसी प्रकार वह संध्या समय में भी उक्त लालिमा को धारण करता है परन्तु जहाँ प्रभातकालीन लालिमा उस के अभ्युदय (उदय या वृद्धि) का कारण होती है वहाँ वह सन्ध्या समय की लालिमा उसके अधः पतन (अस्तगमन) का कारण होती है। ठीक इसी प्रकार से जो प्राणी अज्ञान को छोड़कर तप एवं श्रुत आदि के विषय में राग को प्राप्त होता है वह राग उसके अभ्युदय– स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति का कारण होता है, किन्तु जो प्राणी विवेक को नष्ट करके अज्ञान भाव को प्राप्त होता हुआ विषयानुराग को धारण करता है वह अनुराग उसके अधः पतन का नरक–निगोदादि की प्राप्ति का कारण होता है। इस प्रकार तप–श्रुतानुराग और विषयानुराग इन दोनों में अनुरूप से समानता के होने पर भी महान् अन्तर है एक उर्ध्वगमन का कारण है और दूसरा अधोगमन का कारण हैं।

30. स्त्री विष की तरह

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि, शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि सन्दह्यते स्त्रीभिः, स्त्रियो हि विषमं विषम्॥

अर्थ– जिस महादेव के कण्ठ में स्थित हो करके भी विष ने उसका कुछ भी अहित नहीं किया वही

30. आ.शा./135

महादेव स्त्रियों के द्वारा संतप्त किया जाता है। ठीक हैं स्त्रियाँ भयानक विश हैं।

विशेषार्थ– कहा जाता है कि देवों ने जब समुद्र का मंथन किया था तो उन्हें उसमें से पहिले विष प्राप्त हुआ था और उसका पान महादेव ने किया था। उक्त विष के पी लेने पर भी जिस महादेव को विषजनित कोई वेदना नहीं हुई थी वह महादेव पार्वती आदि स्त्रियों के द्वारा काम से संतप्त करके पीड़ित किया जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि लोग जिस विष को दुःखदायक मानते हैं वह वास्तव में उतना दुःखदायक नहीं है उससे अधिक दुःख देने वाली तो स्त्रियाँ हैं। अतएव उन स्त्रियों को ही विषम विष समझना चाहिये। कारण कि उपर्युक्त विष की तो चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु स्त्रीरूप विष की चिकित्सा नहीं की जा सकती हैं।

31. गुण क्षति अनर्थकारी

पुरा शिरसि धार्यन्ते, पुष्पाणि विबुधैरपि।
पश्चात्पादोपि नास्प्राक्षीत्, किं न कुर्याद् गुणक्षतिः॥

अर्थ– जिन पुष्पों को पहिले देव भी सिर पर धारण करते हैं उनको पीछे पाँव भी नहीं छूता है। ठीक ही है गुण की हानि क्या नहीं करती है ? अर्थात् वह सब कुछ अनर्थ करती हैं।

31. आ.शा./139

विशेषार्थ– पूर्व श्लोक में यह बतलाया था कि जो साधु तप को छोड़कर राज्यलक्ष्मी का उपयोग करने लगता है वह अति लघु– अतिशय निन्दा का पात्र बन जाता है। इसी बात को पुष्ट करने के लिए यहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार जब तक फूल मुरझाते नहीं और अपनी सुगंध को नहीं छोड़ते हैं। तब तक उन्हें देव भी शिर पर धारण करते हैं, किन्तु वे ही जब मुरझाकर सुगन्धी से रहित हो जाते हैं तब उन्हें कोई पांव से भी नहीं छूता है। ठीक इसी प्रकार से जब तक साधु तप, संयम आदि में स्थित रहता है तब तक साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या हैं, किन्तु महान देव भी उसकी पूजा करते है। परन्तु पीछे यदि वही तप से भ्रष्ट होकर विषयों में प्रवृत्त हो जाता है तो फिर उसको कोई भी नहीं पूछता है–सभी उसकी निंदा करते है। अभिप्राय यह है कि पूजा–प्रतिष्ठा का कारण गुण है न कि वाह्य धन–सम्पत्ति आदि।

32. सच्चा गुरु दोष बताता है।

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तक,तया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं।
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम्।।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं।
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं, सोऽयं खलः सद्गुरुः।।

32. आ.शा./141

अर्थ– यदि यह गुरु शिष्य के उन किन्हीं दोषों को प्रवृत्ति कराने की इच्छा से अथवा अज्ञानता से आच्छादित करके प्रकाशित न करके चलता है और इस बीच में यदि वह शिष्य उक्त दोषों के साथ मरण को प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है ? कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता है ऐसी स्थिति में वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषों को आच्छादित करने वाला वह गुरु वास्तव में मेरा गुरु (हितैषी आचार्य) नहीं है। किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषों को निरन्तर सूक्ष्मता से देख करके और उन्हें अतिशय महान बना करके स्पष्टता से कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है।

विशेषार्थ– गुरु वास्तव में वह होता है जो कि शिष्य के दोषों को दूर करके उसे उत्तमोत्तम गुणों से विभूषित करता है। इस कर्म में यदि उसे कुछ कठोरता का भी व्यवहार करना पड़े, जो कि उस समय शिष्य को प्रतिकूल भी दिखता हो तो भी उसे इसकी चिन्ता नहीं करना चाहिये। कारण कि ऐसा करने से उस शिष्य के भविष्य में कल्याण होने वाला हैं। परन्तु उसके विपरीत जो गुरु शिष्य के दोषों को देखता हुआ भी यह सोचता है कि यदि अभी इन दोषों को दूर कराने का प्रयत्न करूँगा तो

शायद वह अभी उन्हें दूर न कर सके या क्रुद्ध होकर संघ से अलग हो जावे ऐसी अवस्था में संघ की प्रवृत्ति नहीं चल सकेगी, इसी विचार से जो उसके दोषों को प्रकाश में नहीं लाता है वह गुरु वास्तव में गुरु पद के योग्य नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि इस बीच में उन दोषों के रहते हुए शिष्य का मरण हो गया तो वह दुर्गति में जाकर दुःखी होगा। इसीलिये ऐसे गुरु की अपेक्षा उस दुष्ट को ही अच्छा बतलाया है जो कि भले ही दुष्ट अभिप्राय से भी दूसरे के सूक्ष्म भी दोषों को बढ़ा–चढ़ाकर प्रगट करता है। कारण यह कि ऐसा करने से जो आत्महित का अभिलाषी है वह उन दोषों को दूर करके आत्मकल्याण कर लेता हैं।

33. धर्म उपदेशक सुलभ, धर्म पालक दुर्लभ

लोकद्वयहितं वक्तुं, श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे, वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।।

अर्थ– पूर्व काल में जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित होता है। उस धर्म का व्याख्यान करने के लिए तथा उसे सुनने के लिए भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते

33. आ.शा./143

थे, परन्तु तदनुकूल आचरण करने के लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमान में तो उक्त धर्म का व्याख्यान करने के लिये और सुनने के लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे।

34. दोष त्यागी, श्रेष्ठ त्यागी

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ, गुणदोष निबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ, स एव विदुषां वरः।।

अर्थ– जो अन्य कारणों की अपेक्षा न करके गुण के कारण किसी वस्तु (सम्यग्दर्शनादि) को ग्रहण करता है। और दोष के कारण उसका (मिथ्यात्व आदि का) परित्याग करता है वही विद्वानों में श्रेष्ठ गिना जाता है।

35. हिताहित विवेक

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा, दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।
विपर्यये तयोरेधि, त्वं सुखायिष्यसे सुधीः।।

अर्थ– हे भव्य! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर जो सम्यग्दर्शन आदि तेरा हित करने वाले हैं उनको तो छोड़ता है और जो मिथ्यादर्शनादि तेरा अहित करने

वाले हैं उनमें स्थित होता है। इस प्रकार से तू अपने आपको दु:खी करता है। तू विवेकी होकर इससे विपरीत प्रवृत्ति कर, अर्थात् अहित–कारक मिथ्यादर्शनादि को छोड़कर हित कारक सम्यग्दर्शनादि को ग्रहण कर। इस प्रकार से तू अपने को सुखी करेगा।

36. न दीन बनो, न अभिमानी।

परमाणोः परं नाल्पं, नभसो न महत्परम्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्, निमौ दीनाभिमानिनौ।।

अर्थ– परमाणु से दूसरा कोई छोटा नहीं है और आकाश से दूसरा कोई बड़ा नहीं है, ऐसा कहलाने वाले क्या इन दीन और अभिमानी मुनष्यों को नहीं देखा हैं ?

विशेषार्थ– लोक में सबसे छोटा परमाणु समझा जाता है। परन्तु विचार करें तो याचक को उस परमाणु से भी छोटा (तुच्छ) समझना चाहिये। कारण यह कि याचना करने से उसके सब ही उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं। वह दीन बनकर सबके मुँह की और देखता है, परन्तु उसकी और कोई दृष्टिपात भी नहीं करता। इस प्रकार उसकी सब प्रतिष्ठा जाती रहती है। इसके विपरीत आकाश से

कोई बड़ा नहीं माना जाता है। परन्तु यथार्थ में देखा जाय तो भी स्वाभिमानी दूसरे से याचना नहीं करता है। स्वाभिमानी संकट में पड़कर भी उस दुःख को साहसपूर्वक सहता है, किन्तु कभी किसी से याचना नहीं करता। अभिप्राय यह कि याचना की वृत्ति मुनष्य को अतिशय हीन बनाने वाली है।

37. याचना मत करो

याचितुर्गौरवं दातु, र्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्याता, मेतौ गुरुलघू तदा॥

अर्थ– याचक पुरुष का गौरव दाता के पास चला जाता है। ऐसा मैं मानता हूँ। यदि ऐसा न होता तो फिर उस समय देने रूप अवस्था से संयुक्त दाता तो गुरु (महान्) और ग्रहण करने रूप अवस्था से संयुक्त याचक लघु (क्षुद्र) कैसे दिखता? अर्थात् ऐसे नहीं दिखने चाहिये थे।

विशेषार्थ– जिस समय याचक किसी दाता के यहाँ पहुँचकर उससे कुछ लेता भी हैं उस समय उन दोनों के मुख पर अलग–अलग भाव अंकित दिखते हैं। इस समय जहाँ याचक के मुखपर दीनता, संकोच एवं कृतज्ञता का भाव द्रष्टिगोचर होता है वहाँ दाता के मुख पर प्रफुल्लता

एवं अभिमान का भाव स्पष्टतया देखने में आता है। इसके ऊपर यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उस समय मानों याचक का आत्म गौरव उसके पास से निकलकर दाता के पास ही चला जाता है। तभी तो इन दोनों में यह विषमता देखी जाती है, अन्यथा इसके पूर्व में तो दोनों समान ही थे। तात्पर्य यह कि याचना का कार्य अतिशय हीन एवं निंदनीय है।

38. दाता प्रशंसा याचक निंदा

अधो जिघृक्षवो यान्ति, यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा, नामोन्नामौ तुलान्तयोः।।

अर्थ– तराजू के दोनों ओर क्रम से होने वाला नीचापन और ऊँचापन स्पष्टतया यह प्रगट करता है कि लेने की इच्छा करने वाले प्राणी नीचे और न लेने की इच्छा करने वाले ऊपर जाते हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार तराजू के एक ओर जब कोई वस्तु रक्खी जाती है तो उधर का भाग नीचा और दूसरी ओर का खाली भाग ऊँचा हो जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य दूसरे से याचना करके कुछ ग्रहण करता है वह नीचेपन (हीनता) को प्राप्त होता है तथा जो दाता देता है वह उत्कृष्टता को प्राप्त करता है। इस प्रकार से तराजू भी मानों यही शिक्षा देती है।

39. धन कम हैं, याचक ज्यादा

सस्वमाशासते सर्वे, न स्वं तत्सर्वतर्पियत्।
अर्थिवैमुख्यसंपादि, सस्वत्वान्निः स्वता वरम्।।

अर्थ– जो मनुष्य धन से सहित होता है उससे सब लोग आशा रखते है माँगने की इच्छा करते है। परन्तु ऐसा वह धन नहीं है जो कि सब ही याचकों को सन्तुष्ट कर सके। अतएव याचक जनकी विमुखता को उत्पन्न करने वाले धनाढ्य पने की अपेक्षा तो कहीं निर्धनता ही श्रेष्ठ है।

विशेषार्थ– जिसके पास धन रहता है उसके पास से धन प्राप्त करने की बहुत जन अपेक्षा करते हैं। परन्तु उसके पास कितना भी अधिक धन क्यों न हो, रहेगा वह सीमित ही है। और उधर याचक असीमित तथा अभिलाषा भी उनकी असीमित ही रहती हैं। ऐसी अवस्था में यदि वह धनवान् अपने समस्त धन को याचकों में वितीर्ण कर दे तो भी क्या वे सब याचक तृप्त हो सकते है ? नहीं हो सकते। इसलिये जो मनुष्य यह सोचकर धन के कमाने में उद्यत होता है कि मैं धन का संचय करके याचकों को दूँगा और उनकी अभिलाषा को पूर्ण करूँगा, उसका कैसा

विचार करना अज्ञानता से परिपूर्ण हैं। अतएव ऐसे धन की अपेक्षा निर्धन (निर्ग्रन्थ) रहना ही अधिक श्रेष्ठ है। कारण कि ऐसा करने से जो निराकुलता धनवान् को कभी नहीं प्राप्त हो सकती है वह इस निर्धन (साधू) को अनायास ही प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार से वह आत्यन्तिक सुख को भी प्राप्त कर लेता है।

40. स्वाभिमान धन, श्रेष्ठ धन

आशा खनिरतीवा भू, दगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता, तत्ते मानधनं धनम्।।

अर्थ– जो अत्यन्त गहरी आशारूप खान (गड्ढा) निधियों के द्वारा भी समान (पूर्ण) नहीं हो सकती है वह तेरे जिस स्वाभिमान–रूप धन से समान हो सकती है वह स्वाभिमानरूप धन ही तेरा यथार्थ धन हैं।

40. आ.शा./156

41. आशा का गड्ढा, त्यागी ही भर सकता

आशाखनिरगाधे य, मधः कृतजगत्त्रया।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्र स्था, नहो सद्भिः समीकृता।।

अर्थ– तीनों लोकों के नीचे करने वाली यह आशारूप खान अथाह हैं। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उक्त आशारूप खान में स्थित धनादिको का उत्तरोतर परित्याग करके सज्जन पुरुषों ने उसे समान कर दिया है।

विशेषार्थ– प्राणी की आशा या इच्छा एक प्रकार का गड्ढा है जो इतना गहरा है कि यदि उसमें तीनों ही लोकों की सम्पदा भर दी जाय तो वह पूरा नहीं होगा यहाँ इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया गया है कि इतने गहरे भी उस आशा रूप गड्ढे में स्थित पदार्थों को उसमें से बाहर निकालकर सज्जन पुरुषों ने उसे पृथ्वी तल के समान कर दिया है। सो है भी यह आश्चर्य की–ही बात। कारण कि लोक में तो ऐसा देखा जाता है कि जिस गड्ढे के भीतर से मिट्टी, पत्थर या चाँदी–सोना आदि जितने अधिक प्रमाण में बाहर निकाला जाता है उतना ही वह गड्ढा और अधिक गहरा होता हैं। परन्तु सज्जन

पुरुषों ने उस आशारूप गड्ढे में स्थित (अभीष्ट) पदार्थों को उससे बाहर निकालकर गहरा करने के बदले उसे पूरा कर दिया है। अभिप्राय यह है कि जितनी–जितनी इच्छा पूर्ति होती जाती है उतनी ही अधिक तृष्णा और भी बढ़ती जाती है। इसीलिये विवेकी मनुष्य जब उस तृष्णा को बढ़ाने वाले विषय भोगों की आशा ही नहीं करते हैं। तब उनका वह आशारूप गड्ढा क्यों न पूर्ण होगा ? अवश्य ही पूर्ण होगा।

42. भोग की अपेक्षा त्याग श्रेष्ठ

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो, सहस्वाल्पं स्वरेवते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा, पेयं भुक्तिं विनाशयेः।।

अर्थ– **हे साधो! यदि तुझे भोगों के विषय में अभिलाषा है तो तू कुछ समय के लिए व्रतादि के आचरण से होने वाले थोड़े से कष्ट को सहन कर। ऐसा करने से तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, वे भोग वहाँ पर ही हैं। तू पाक की प्रतिक्षा करता हुआ पानी आदि को पी करके क्यों भोजन को नष्ट करता है?**

विशेषार्थ– जो बाल साधु विषय भोगों की अभिलाषा

करता है उसको लक्ष्य में रखकर यहाँ यह कहा गया है कि यदि तुझे विषय भोगों की ही अभिलाषा है तो तू कुछ समय के लिए व्रतादि के आचरण से जो थोड़ा सा कष्ट होने वाला है उसे स्थिरता से सहन कर। कारण यह कि ऐसा करने से तुझे तेरी इच्छा के अनुसार स्वर्ग में उन विषय भोगों की प्राप्ति हो जावेगी। फिर तू सागरोपम काल तक उस विषय सुख का अनुभव करते रहना। और यदि तू ऐसा नहीं करता है तो फिर तेरी ऐसी अवस्था होगी जैसे कि अवस्था उस मनुष्य की होती है जो कि थोड़े–से काल के लिये भोजन के परिपाक की प्रतीक्षा न करके भूख से पीड़ित होता हुआ पानी आदि को पी करके ही उस भूख को नष्ट करके भोजन के आनन्द को भी नष्ट कर देता है। अभिप्राय यह है कि जो विषय तृष्णा के वशीभूत होकर व्रतादि के आचरण को छोड़ देता है उसे मोक्ष सुख मिलना तो दूर ही रहा, किन्तु वह विशिष्ट विषय सुख भी उसे प्राप्त नहीं होता जो कि स्वार्गादि में जाकर प्राप्त किया जा सकता था।

43. ज्ञानी साधुओं की प्रशंसा

निर्धनत्वं धनं येषां, मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां, सतां ज्ञानैक चक्षुषाम्॥

अर्थ– जिन साधुओं के निर्धनता (उत्तम आकिंचन्य) ही धन है तथा मृत्यु की जिनका जीवन है उस ज्ञानरूप अद्वितीय नेत्र को धारण करने वाले साधुओं का भला कर्म क्या अनिष्ट कर सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार अन्य जनों को प्राणों से अधिक धन प्रिय होता है। उसी प्रकार साधुओं को भी निर्धनता (दिगम्बरत्व) अधिक प्रिय होती है। कारण कि उनका वही एक अपूर्व धन है जिसकी कि वे सदा से रक्षा करते है ऐहिक सुख की अभिलाषा करने वाले प्राणियों को जैसे जीवन प्रिय होता है वैसे ही परमार्थिक सुख की अभिलाषा रखने वाले साधु पुरुषों को मरण प्रिय होता है। वे वृद्धत्व एवं किसी असाध्य रोग आदि के उपस्थित होने पर धर्म का रक्षण करते हुए प्रसन्नता से समाधिमरण को स्वीकार करते है उन मनस्वियों को किंचित् भी मरण का भय नहीं होता। उसका भय तो मात्र अज्ञानी जीवों को ही हुआ

करता है। ऐसी अवस्था में दैव भला उनका क्या अनिष्ट कर सकता है ? कुछ भी नहीं । कारण यह कि दैव यदि कुछ अनिष्ट कर सकता है तो यही कर सकता है। कि वह धन को नष्ट कर देगा, इससे भी अधिक कुछ अनिष्ट वह कर सकता है तो प्राणों का अपहरण कर लेगा। सो यह उक्त मनस्वी जीवों को इष्ट ही है। तब उसने उनका अनिष्ट किया ही क्या ? कुछ नहीं।

44. कर्म क्या करेगा, जिन्हें आशा नहीं

जीविताशा धनाशा च,येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां,येषामाशा निराशता।।

अर्थ– जिन जीवों के जीवन की अभिलाषा और धन की अभिलाषा रहती है उन्हीं जीवों का कर्म कुछ अनिष्ट कर सकता है– वह उनके प्रिय जीवन और धन को नष्ट करके हानि कर सकता है। परन्तु जिन जीवों की आशा–जीने की इच्छा और विषयतृष्णा– निःशेषतया नष्ट हो चुकी है उनका वह कर्म भला क्या अनिष्ट कर सकता है ? कुछ भी नहीं यदि वह उनके जीवन और धन का अपहरण करता है तो वह उनके अभीष्ट को ही सम्पादित करता हैं।

44. आ.शा./163

45. वैभव त्यागकर तप करना श्रेष्ठ

परां कोटिं समारूढौ, द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं, यस्तपो विषयाशया।।

अर्थ– जो मनुष्य तपके लिये चक्रवर्ती की विभूति को छोड़ता है तथा इसके विपरीत जो विषयों की अभिलाषा से उस तप को छोड़ता है वे दोनों ही क्रमशः स्तुति और निन्दा की उत्कृष्ट सीमा पर पहुँचते हैं।

विशेषार्थ– जो विवेकी जीव चक्रवर्ती और विभूति को पाकर भी उसे आत्महित में बाधक जानकर तुच्छ तृण के समान छोड़ देता है और निर्ग्रन्थ होकर दुर्धर तप को स्वीकार करता है वह सबसे अधिक प्रशंसा के योग्य हैं । इसके विपरीत जो कारण पाकर विपरित को प्राप्त होता हैं। प्रथम तो राज्य वैभव को छोड़कर तप को स्वीकार करता है। और फिर पीछे उन्हीं पूर्वभुक्त भोगों की अभिलाषा से उस दुर्लभ तप को छोड़कर पुनः उस सम्पत्ति का उपयोग करने लगता हैं। वह सबसे अधिक निन्दा का पात्र है उसकी अज्ञानता को धिक्कार है।

45. आ.शा./164

46. तप से शुद्धता

विशुद्धयति दुराचारः, सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च, किल सर्वाधरोऽ परः।।

अर्थ– जिस तप के द्वारा नियमतः सब ही दुष्ट आचरण शुद्धि को प्राप्त होता है उस तप को भी दूसरा निकृष्ट मनुष्य मलिन करता हैं।

विशेषार्थ– जो जल वस्तु की मलिनता को दूर कर उसे शुद्ध करता है उस जल को ही यदि कोई गंदला करता है तो वह जिस प्रकार निन्दा का पात्र होता है, उसी प्रकार जो तप पूर्वोपार्जित पाप को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है उसे ही यदि कोई दुश्चरित्र साधु अपने पापाचरण से मलिन करता है तो वह सबसे नीच ही कहा जावेगा। इस प्रकार के दुराचार से न जाने उसको कितने महान् दुःख सहने पड़ेगे।

47. वस्तु शाश्वत है

तदेव तदतद्रूपं, प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं, चिन्तयेद्विश्ववित् सदा।।

अर्थ– वह जीवादिरूप वस्तु तदतत्स्वरूप अर्थात्

नित्यानित्यादिस्वरूप को प्राप्त होकर विराम को नहीं प्राप्त होती है, इस प्रकार समस्त तत्त्व का जानकर विश्व की अनादिनिधनता का विचार करे।

विशेषार्थ– पूर्व लोक में यह निर्देश किया था कि साधु के लिए अपने चंचल मन को श्रुत के अभ्यास में लगाना चाहिए। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए यहाँ यह बतलाया है, कि आगम में वर्णित जीवाजीवादि पदार्थों में से प्रत्येक विवक्षा भेद से भिन्न–भिन्न स्वरूप वाला है। जैसे एक ही आत्मा जहाँ द्रव्य की प्रधानता से नित्य है, वहाँ वह पर्याय की प्रधानता से अनित्य भी है, कारण यह है कि आत्मा को जो चैतन्य द्रव्य है, उसका कभी नाश संभव नहीं हैं वह उसकी समस्त पर्याय में विद्यमान रहता है। जैसे सुवर्ण से उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाली कड़ा, कुण्डल एवं साकल आदि पर्याय में सुवर्ण समान्य विद्यमान रहता है। अतएव वह द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से नित्य कहा जाता है, परन्तु वहीं चूँकि पर्याय की उपेक्षा अनेक अवस्थाओं में भी परिणत होता है। एकरूप नहीं रहता। इसीलिए पर्यायर्थिक नय की अपेक्षा उक्त आत्मा को अनित्य भी कहा जाता है। लोक व्यवहार में भी कहा जाता है। कि अमुक मनुष्य मर गया है, अमुक के यहाँ पुत्र जन्म हुआ है, आदि। यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध अवश्य दिखते हैं। तो भी विवक्षा भेद से

अनेक मानने में कोई विरोध नहीं आता। जैसे– एक ही देवदत्त नाम का व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा जिस प्रकार पिता कहा जाता है, उसी प्रकार वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र कहा जाता है इस प्रकार का व्यवहार लोक में स्पष्टता देखा जाता है। इसमें किसी को भी विरोध प्रतीत नहीं होता है। परन्तु हाँ यदि कोई जिस पुत्र की अपेक्षा किसी को पिता कहता है उसी पुत्र की अपेक्षा से यदि उसे पुत्र कहता है। तो उसका वैसा कहना निश्चित ही विरुद्ध होगा। ओर इसीलिए वह निन्दा का पात्र होगा। इसी प्रकार जिस द्रव्य की अपेक्षा वस्तु को नित्य माना जाता है। उसी द्रव्य की अपेक्षा यदि कोई उसे अनित्य समझ ले तो उसके समझने में अवश्य ही विरोध रहेगा। परन्तु एक ही वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानने में किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं रहती। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा भेद से सत् और असत्, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न आदि स्वरूपों के मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। बल्कि इसके विपरीत उसे दुराग्रह वश एक ही स्वरूप मानने में अवश्य विरोध होता हैं। इस प्रकार साधु को श्रुत के चिंतन में वस्तु स्वरूप के विचार में अपने मन को लगाना चाहिए। ऐसा करने से वह साधु निठल्ले मन के द्वारा उत्पन्न होने वाली राग–द्वेष–मय प्रवृत्ति से अवश्य ही रहित होगा।

48. वस्तु स्वरूप कथन

एकमेकक्षणे सिद्धं, ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्।
अबाधितान्यतत्प्रत्य, यान्यथानुपपत्तितः।।

अर्थ– एक ही वस्तु विवक्षित एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद और नाश स्वरूप सिद्ध है, क्योंकि इसके बिना उक्त वस्तु में जो भेद और अभेदरूप निर्वाध ज्ञान होता है वह घटित नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ– बाह्य और आभ्यन्तर निमित्त को पाकर जीव और अजीव द्रव्य अपनी जाति को ना छोड़ते हुए जो अवस्था अन्तर को प्राप्त होते हैं, इसका नाम उत्पाद है जैसे अपनी पुद्गल जाति को ना छोड़कर मिट्टी के पिण्ड का घट पर्याय को प्राप्त करना उक्त दोनों ही कारणों से द्रव्य की जो पूर्व अवस्था का नाश होता हैं। इसे व्यय (नाश) कहा जाता है। जैसे– उस घटकी उत्पत्ति में उसी मिट्टी के पिण्डकी पिण्ड रूप पूर्वपर्याय का नाश अनादि परिणामिक स्वभाव से वस्तु का उत्पाद और नाश से रहित होकर स्थिर रहने का नाम ध्रौव्य है। ये तीनों ही अवस्थायें प्रत्येक वस्तु में प्रति–समय रहती हैं। कारण यह कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषतात्मक हैं, अतएव जहाँ विशेष रूप से वस्तु (घट) का उत्पाद

होता है। वही उसका (मृत पिण्डका) नाश भी होता है। परन्तु सामान्य (पौद्गलिकत्व) स्वरूप से न वस्तु का उत्पाद होता है, और न नाश भी वह सामान्य (पुद्गल) स्वरूप से दोनों (घट और मृतपिंड) ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। इस बात का समर्थन स्वामी समंत भद्राचार्य ने निम्न दुष्टान्त के द्वारा किया हैं।

घट–मौलि–सुवर्णार्थी, नाशोत्पादसितिष्क्यम्।
शोक–प्रमोद–माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।

अर्थात् किसी सुनार सुवर्ण के घटकों तोड़कर उससे मुकुट को बनाया। इसको देखकर जो व्यक्ति घट को चाहता था वह तो पश्चात्ताप करता है, जो मुकुट को चाहता था वह हर्षित होता है, और जो सुवर्ण मात्र को चाहता था वह हर्ष–विषाद दोनों से रहित होकर मध्यस्थ ही रहता है इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। ऐसा मानने पर ही उसके विषय में होने वाली भेद बुद्धि; और अभेद बुद्धि संगत होती है अन्यथा वह घटित नहीं हो सकती और वैसी बुद्धि होती अवश्य है। तभी तो भेदबुद्धि के कारण घट को टूटा हुआ देखकर उसका अभिलाषी दुखी और मुकुट का अभिलाषी हर्षित होता है। किन्तु उन दोनों ही अवस्थाओं में अभेद–बुद्धि के रहने से सुवर्ण का अभिलाषी न दुखी होता है और न हर्षित भी। इसीलिये प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिये।

49. आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा, स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन्, भावयेज्ज्ञान भावनाम्।।

अर्थ– आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है और उस अनंत ज्ञानादि स्वभाव की जो प्राप्ति है, यही उस आत्मा की अच्युति अर्थात् मुक्ति है। इसलिये मुक्ति की अभिलाषा करने वाले भव्य को उस ज्ञान भावना का चिंतन करना चाहिये।

विशेषार्थ– पूर्व श्लोक में यह बतलाया था कि जितने भी जीवाजीवादि पदार्थ हैं वे सब ही विवक्षा भेद से नित्यानित्यादि अनेक स्वभाव वाले हैं। यह कंथचित् नित्यानित्यादिरूपता उक्त सब ही पदार्थों का साधारण स्वरूप हैं। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह समस्त पदार्थों का साधारण स्वरूप है तब आत्मा का असाधारण स्वरूप क्या है जिसका भी चिन्तन किया जा सके। इसके उत्तर स्वरूप यहाँ यह बतलाया है कि आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर है। जो भी जिस पदार्थ का असाधारण स्वरूप होता है वह सदा उसके साथ ही रहता है – जैसे कि अग्नि का उष्णत्व स्वरूप। इस प्रकार यद्यपि आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और वह अनिश्वर भी है तो भी वह अनादिकाल से ज्ञानावरण एवं

49. आ.शा./174

मोहनीय आदि कर्मों के निमित्त से विकृत (राग–द्वेष बुद्धि स्वरूप) में रहा है– जैसे कि अग्नि के संयोग से जल का शीतल स्वभाव विकृत होता है। अग्नि का संयोग हो जाने पर आत्मा भी अपने स्वाभाविक अनंत चतुष्टय में स्थित हो जाता है। बस इसी का नाम मोक्ष है इसीलिये यहाँ मुमुक्षु जन से यह प्रेरणा की गई है कि आप लोग आदि उस मोक्ष की अभिलाषा करते हैं तो आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान है उसी का बार–बार चिन्तन करें क्योंकि एक मात्र वही अविनश्वर स्वभाव उपादेय है– शेष सब विनश्वर पर पदार्थ (स्त्री–पुरुष एवं धन आदि) हेय हैं। इस प्रकार की भावना से उस मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी।

50. ज्ञान का फल केवलज्ञान

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने, ननुश्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्य,मन्यदप्यत्र मृग्यते।।

अर्थ– ज्ञान स्वभाव का विचार करने पर प्राप्त होने वाला उसका फल भी वही ज्ञान है जो कि प्रशंसनीय एवं अविनश्वर हैं। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञानी प्राणी उस ज्ञान भावना का फल ऋद्धि आदि की प्राप्ति भी खोजते हैं, यह उनके उस प्रबल मोह की महिमा हैं।

50. आ.शा./175

विशेषार्थ– उक्त ज्ञान भावना के चिन्तन से क्या फल प्राप्त हो सकता है, उस जिज्ञासा की पूर्ति स्वरूप यहाँ यह बतलाया है कि उक्त ज्ञान भावना (श्रुतचिंतन) का फल भी उसी ज्ञान की प्राप्ति है। कारण यह कि श्रुतज्ञान का विचार करने पर साक्षात् फल तो उन–उन पदार्थों के विषय में जो अज्ञान या वह नष्ट होकर तद्विषयक ज्ञान की परिप्राप्ति हैं तथा उसका पारम्परित फल निर्मल एवं अनिश्वर केवल ज्ञान की प्राप्ति है। इस तरह दोनों भी प्रकार से उसका फल ज्ञान की ही प्राप्ति है। उसका फल जो ऋद्धि–सिद्धि आदि माना जाता है, वह अज्ञानता से ही माना जाता है। कारण यह कि जिस प्रकार खेती का वास्तविक फल अन्न का उत्पादन होता है, न कि भूसा आदि–वह तो अन्न के साथ में अनुषंग स्वरूप से होने वाला ही है। इसी प्रकार श्रुत भावना का भी वास्तविक फल केवलज्ञान की प्राप्ति ही है, उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाली ऋद्धियों आदि की प्राप्ति तो उक्त भूसा के समान उनका आनुषगिक फल है। अतएव जिस प्रकार कोई भी किसान भूसा प्राप्ति के विचार से कभी खेती नहीं करता है, किन्तु अन्य प्राप्ति के ही विचार से करता है, उसी प्रकार विवेकी जनों को भी उक्त केवलज्ञान की प्राप्ति के विचार से ही श्रुत भावना का चिन्तन करना चाहिए न कि ऋद्धि आदि प्राप्ति इच्छा से।

51. शास्त्रज्ञान अग्नि की तरह शुद्ध करता है।

शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो, विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत् खलो दीप्तो, मली वा भस्म वा भवेत्।।

अर्थ– शास्त्र रूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। किन्तु दुष्ट जीव (अभव्य) उस शास्त्ररूप अग्नि में प्रदीप्त होकर मलिन व भस्म स्वरूप हो जाता है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार पद्मरागादि मणि को अग्नि में रखने पर वह मल से रहित होकर अतिशय निर्मल हो जाता है और सदा वैसा ही रहता है उसी प्रकार श्रुतभावना का विचार करने पर भव्य जीव भी राग द्वेषादिरूप मल से रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है और सदा उसी अवस्था में प्रकाशमान रहता है। इसके विपरीत जिस प्रकार अग्नि के मध्य में स्थित अंगार यद्यपि उस समय अतिशय दैदीप्यमान होता हैं तो भी पीछे वह मलिन कोयला अथवा भस्म बन जाता है उसी प्रकार उक्त श्रुत–भावना के विचार से अभव्य जीव भी यद्यपि उस समय ज्ञानादि के प्रभाव से प्रकाशमान होता है तो भी वह मिथ्याज्ञान के पदार्थों को जान करके मलिन तथा

51. आ.शा./176

मिथ्यादर्शन व अन्तानुबन्धी के प्रभाव में उनमें राग–द्वेष बुद्धि को प्राप्त होकर भस्म के समान पदार्थ ज्ञान से रहित हो जाता है। यहाँ शास्त्र के जो अग्नि का आरोप किया गया है वह इसीलिये किया गया है कि जिस प्रकार अग्नि वस्तु को प्रकाशित करती है और ईन्धन को जलाती भी है इसी प्रकार शास्त्र भी वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करता है और कर्मरूप ईन्धन को जलाता भी है। इस प्रकार इन दोनों में प्रकाशत्व एवं दाहकत्व–रूप समान धर्मों को देखकर ही वैसा आरोप किया गया है।

52. ज्ञान प्रसार से राग द्वेष निवारण

मुहुः प्रसार्य संज्ञानं, पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीति निराकृत्य, ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः।।

अर्थ– आत्मतत्त्व का जानकार मुनि बार बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसा कि पदार्थों का स्वरूप है उसी रूप से उनको देखता हुआ राग और द्वेष को दूर करके ध्यान करे।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि आत्महितैषी जीव को सबसे पहिले सम्यग्ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा

होने पर आत्मस्वरूप की जानकारी हो जाने से उसकी उस ओर रुचि होगी। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि के न रहने से रागद्वेष रूप प्रवृत्ति भी नष्ट हो जावेगी जिससे कि वह एकाग्र चित होकर ध्यान में लीन हो सकेगा। कारण यह कि राग द्वेषरूप प्रवृत्ति के होते हुए उस ध्यान की सम्भावना नहीं हैं।

53. जब तक रागद्वेष तब तक भव भ्रमण

वेष्टनोद्वेष्टने याव, त्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां, जन्तोर्मन्थानुकारिणः।।

अर्थ– मथनी का अनुशरण करने वाले जीव के जब–तक रस्सी के बंधने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त रस्सी के खीचनें और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

विशेषार्थ– यहाँ जीव को मन्थनदण्ड (मथानी) के समान बतलाया है। उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्ड के ऊपर लिपटी हुई रस्सी के समान हैं, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृत्ति उक्त रस्सी को एक ओर से खींचने और दूसरी

ओर से कुछ ढीली करने के समान है, तथा उससे होने वाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उस रस्सी के बंधने और उकलने के समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानी में लिपटी हुई रस्सी को एक ओर से खीचने और दूसरे ओर से ढीली करने पर वह रस्सी बँधती व उकलती ही रहती है। तथा इस प्रकार से वह मंथन दण्ड बराबर ही घूमता रहता है– उसे विश्रान्ति नहीं मिली हाँ, यदि उस रस्सी को एक ओर से सर्वथा छोड़ कर दूसरी ओर से पूरा ही खींच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकार से बंधना और उकलना चालू नहीं रह सकेगा। तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर परिभ्रमण से रहित हो जावेगा। ठीक इसी प्रकार से जब तक जीव की राग–द्वेष रूप प्रवृत्ति चालू रहती हैं तब तक वह कर्मों का बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है। कारण यह कि राग–द्वेष से जिन नवीन कर्मों का बन्ध होता है उनके उदय में आने पर जीव तत्कृत सुख–दुःख रस फल को भोगता हुआ फिर भी राग–द्वेष रूप परिणय न करता है तब तक प्राणी चतुर्गति रूप इस संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु यदि वह रागद्वेष से बांधे गये उन कर्मों को तपश्चरण आदि के द्वारा अविपाक निर्जरा स्वरूप से नष्ट कर देता है तो फिर राग–द्वेष रूप परिणति से रहित जो जाने के कारण उसके नवीन कर्मों

का बन्ध नहीं होता है। और तब संवर एवं निर्जरा के आश्रय से उसका संसार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जब तक प्राणी राग– द्वेष रूप परिणाम करता है तब तक उसका चित्तस्थिर नहीं रह सकता है, और जब–तक चित्त स्थिर नहीं होता है तब तक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिये राग–द्वेष से रहित होना अनिवार्य है।

54. कर्म बन्ध त्याग विचार

मुच्यमानेन पाशेन, भ्रांतिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो, येनाभ्रान्तिरबन्धनम्।।

अर्थ– छोड़ी जाने वाली रस्सी की फाँसी के द्वारा मथानी के समान जीव के नवीन बन्ध और परिभ्रमण चलते रहता है। अतएव उसको इस प्रकार से छोड़ना चाहिये कि जिससे फिर से बन्धन और परिभ्रमण न हो सकें।

विशेषार्थ– जिस प्रकार मथानी में फाँसी के समान लिपटी हुई रस्सी यदि एक ओर से खींचने के साथ दूसरी ओर से ढीली की जाती है तब तो मथानी का बंधना व घूमना बराबर ही चालू रहता है। किन्तु यदि उस रस्सी को दोनों ओर से ही ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानी के घूमने कि क्रिया सर्वथा बन्द हो जाती है। ठीक

इसी प्रकार से जीव की फाँसी स्वरूप सम्बद्ध कर्म को यदि सविपाक निर्जरा के द्वारा राग–द्वेष रूप प्रवृत्ति के साथ छोड़ते हैं निर्जीण करते हैं तब जो जीव के नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता हैं। परन्तु यदि कर्मरूप फाँसी को अविपाक निर्जरापूर्वक राग–द्वेष से रहित होकर छोड़ा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण दोनों ही रुक जाते हैं। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

55. तत्त्वज्ञान से मोक्ष

रागद्वेष कृताभ्यां जन्तो, र्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां, ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः।।

अर्थ– राग और द्वेष के द्वारा की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव के बन्ध होता है तथा तत्त्वज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है।

विशेषार्थ– जीव जब तक पर पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करता है तब तक उस के जिस प्रकार इस पदार्थ के संयोग में हर्ष और उसके वियोग में विषाद होता है उसी प्रकार अनिष्ट पदार्थ के संयोग से द्वेष और उसके वियोग में हर्ष भी होता है। इस प्रकार से जब तक उसकी इष्ट वस्तु के ग्रहणादि में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु के विषय में निवृत्ति होती है। तब तक उसके कर्मों का

बन्ध भी अवश्य होता हैं। इसके विपरीत जब वह तत्त्वज्ञान पूर्वक अनिष्ट हिंसा आदि के परिहार और इष्ट (तप–संयम आदि) के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव (संवर) और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिये यह ठीक ही कहा गया है कि''**रागी बध्नाति कर्माणि,वीतरागो विमुच्यते**'' अर्थात् रागी जीव तो कर्म को बांधता है और वीतराग उसके मुक्त होता है–निर्जरा करता हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय(212–214) में भी राग को बन्ध का कारण रत्नत्रय को बन्धाभाव का कारण बतलाया गया हैं।

(आर्याछन्द)

56. पाप पुण्य रहित दशा मोक्ष

द्वेषानुराग बुद्धि, र्गुण दोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं, तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्।।

अर्थ– गुण के निमित्त से की गई बुद्धि तथा दोष के निमित्त से की गई अनुराग बुद्धि, उनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के निमित्त से होने वाली द्वेष बुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता हैं। तथा इन दोनों से रहित–अनुराग बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना– इन दोनों (पाप–पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवरपूर्वक निर्जरा होती है।

56. आ.शा./181

विशेषार्थ– जीव की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती हैं– अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमें अशुभ प्रवृत्ति व्रत– संयमादि से द्वेष रखकर दुर्व्यसनादि में अनुराग रखने से होती है और वह पाप बंधन की कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादि को अनिष्ट समझकर व्रत– संयमादि में अनुराग रखने से होती है और वह पुण्य बन्ध की कारण होती है। इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनों से ही रहित होकर जो आत्मध्यान रूप जीव की प्रवृत्ति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृत्ति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनों के ही नाश का कारण होती है। यह अन्तिम प्रवृत्ति (शुद्धोपयोग) ही जीव को उपादेय है। परन्तु जब तक वह शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति सम्भव नहीं है तब तक एक जीव के लिये उस अशुभ प्रवृत्ति को छोड़कर शुभ प्रवृत्ति को अपनाना भी योग्य है। परन्तु अशुभ प्रवृत्ति को सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरण के रूप में जैसे बह्मचर्य सर्वदा और सर्वथा ही उपादेय है। परन्तु जो उसका सर्वदा पालन नहीं कर सकता है उसके लिए यह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्या को सहधर्मिणी के रूप में स्वीकार करके अन्य स्त्रियों की ओर से विरक्त होता हुआ केवल उसी के साथ अनासक्ति पूर्वक विषय सुख का अनुभव करे। इसके

विपरीत स्वस्त्री और परस्त्री आदि का भेद न करके स्वेच्छा चारिता से आसक्ति के साथ विषय भोग करना, यह सर्वथा निंदनीय ही समझा जाता हैं– उसकी प्रशंसा कभी भी किसी के द्वारा नहीं की जाती हैं। यही भाव यहाँ अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग के भी विषय में समझना चाहिये।

57. ज्ञान अग्नि में मोह बीज जलादो

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ, बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं,तदेतौ निर्दिधिक्षुणा॥

अर्थ– जिस प्रकार बीज से जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार मोहरूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये जो इन दोनों (राग–द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उस मोहरूप बीज को जला देना चाहिए।

विशेषार्थ– जिस प्रकार वृक्ष की जड़ और अंकुर का कारण बीज है उसी प्रकार राग और द्वेष की उत्पत्ति का कारण मोह (अविवेक) है, अतएव जो वृक्ष के अंकुर और जड़ को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्ष के बीज को ही जला देता है। उसी प्रकार जो आत्म हितैषी उन राग और द्वेष को नहीं उत्पन्न होने

देना चाहता है उसे उनके कारण भूत उस मोह को ही सम्यग्ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिये। इस प्रकार वे राग–द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे।

58. मोह पुराना घाव है।

पुराणः ग्रह दोषोत्थो, गम्भीरः सगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोह, व्रणः शुध्द्यति रोहति।।

अर्थ– मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीड़ाकारक है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का) शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा, नस से सहित और पीड़ा देने वाला घाव औषध (मलहम) आदि से भी शुद्ध होकर– पीव आदि से रहित होकर– भर जाता हैं उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादिकाल से जीव के साथ रहने वाला परिग्रह रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) ऊर्ध्वगमन (मुक्तिप्राप्ति) में सहायक होता हैं।

58. आ.शा./183

59. शोक त्याग का उपदेश

सुहृदः सुखयन्तः स्यु,र्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या, द्विषो दुःखयितुं मृताः।।

अर्थ– यदि सुख को उत्पन्न करने वाले मित्र, और दुःख को उत्पन्न करने वाले शत्रु माने जाते हैं तो फिर जब मित्र भी मर करके वियोगजन्य दुःख को उत्पन्न करने वाले है तब वे भी शत्रु ही हुए, फिर उनके लिये शोक क्यों करना चाहिए? नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जो प्राणी को सुख देता है वह मित्र माना जाता है और जो दुख देता है, वह शत्रु माना जाता है। यह लोक प्रसिद्ध बात है। अब यदि विचार करें तो प्राणी जिन पिता, पुत्र एवं बन्धु को मित्र के समान सुखदायक मानता है वे भी सदा सुख देने वाले नहीं होते। कारण कि जब उनका मरण होता है तब उनके वियोग में वह अत्याधिक दुखी होता है। ऐसी अवस्था में वे मित्र कैसे रहे? दुखदायक होने से वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके निमित्त जो यह प्राणी शोकसंतप्त होता है वह अपनी अज्ञानता के कारण ही होता है। अतएव अज्ञानता के कारण भूत उस मोह को ही नष्ट करना चाहिए।

59. आ.शा./184

60. लाभ हानि में हर्ष विषाद न करने वाला ज्ञानी ही सुखी

हानेः शोकस्ततो दुःखं, लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन्, सुखीस्यात्सर्वदा सुधीः॥

अर्थ– इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दुख होता है तथा उसके लाभ से राग और फिर उससे सुख होता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए।

विशेषार्थ– दुख का कारण शोक और उस शोक का भी कारण इष्टसाम्रगी का अभाव है। इसी प्रकार सुख का कारण राग और उस राग का भी कारण उक्त इष्ट साम्रगी की प्राप्ति है। परन्तु यथार्थ में यदि विचार करें तो कोई भी बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट है– यह तो अपनी रुचि के अनुसार प्राणी की कल्पना मात्र है। कहा भी है–

अनादौ सति संसारे, केन कस्य न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावस्य सर्वमेतद्धि कल्पना।।
(क्ष.चू.1/61)

60. आ.शा./186

अर्थात् संसार अनादि है, उसमें जो किसी समय बन्धु रहा है वही अन्य समय में शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस अनादि संसार में न तो वास्तव में कोई मित्र है और न कोई शुत्र है। यह सब प्राणी की कल्पना मात्र है। इसीलिये विवेकी जन ममत्वबुद्धि से रहित होकर इष्ट की हानि में कभी शोक नहीं करते हैं।

61. संन्यास ही सुख

सुखी सुखमिहान्यत्र,दुःखी दुःखं समश्नुते।
सुखं सकलसंन्यासो, दुःखं तस्य विपर्ययः।।

अर्थ– जो प्राणी इस लोक में सुखी है वह परलोक में भी सुख को प्राप्त होता हैं तथा जो इस लोक में दुःखी है वह परलोक में भी दुःख को प्राप्त करता हैं। कारण यह कि समस्त इन्द्रिय विषयों से विरक्त होने का नाम सुख और उनमें आसक्त होने का नाम ही दुःख है।

विशेषार्थः– आकुलता का नाम दुख और उसके अभाव का नाम सुख है। जो प्राणी विषय भोगों की तृष्णा से युक्त होकर अपनी इच्छानुसार उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह व्याकुल होकर जैसे इस लोक में

61. आ.शा./187

परिश्रमजन्य दुख को सहता है, वैसे ही वह उक्त विषयों के लाभालाभ में हर्ष व विषाद को प्राप्त होता हुआ पापकर्म को उपार्जित करके परलोक में भी दुर्गति के दुख को सहता है। इसके विपरीत जो स्वेच्छा से उन विषय–भोगों की अभिलाषा न करके उन्हें छोड़ देता है और तप–संयम को स्वीकार करता है वह निराकुल रहकर जैसे इस लोक में सुख का अनुभव करता है वैसे ही वह राग–द्वेष से रहित हो जाने के कारण पाप कर्म से रहित होकर परलोक (स्वर्गादि) में भी सुख का अनुभव करता है।

62. जन्मोत्सव नहीं मरणबोध।

मृत्योर्मृत्खन्तर प्राप्ति,रुत्पत्तिरिह देहिनाम्।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये, पाश्चात्ये पक्षपातिनः॥

अर्थ– यहाँ संसार में एक मरण से जो दूसरे मरण की प्राप्ति है, उसी से प्राणियों की उत्पत्ति है। इसलिये जो जीव उत्पत्ति में हर्ष को प्राप्त होते है वे पीछे होने वाली मृत्यु के पक्षपाती है ऐसा मैं समझता हूँ।

विशेषार्थ– लोक में जब किसी के यहाँ पुत्रादि का जन्म होता है तब तो कुटुम्बी जन अतिशय हर्ष को प्राप्त होकर उत्सव मनाते है और जब किसी इष्ट का मरण होता है

तब वे दुखी होकर रूदन करते हैं। वे यह नहीं विचार करते कि वह जन्म क्या है, आखिर आगे होने वाली मृत्यु का ही तो वह निमन्त्रण है। फिर जब वे पुत्रादि के जन्म में उत्सव मनाते है और जब किसी इष्ट का मरण होता है तब वे दुखी होकर रूदन करते हैं। वे यह नहीं विचार करते कि वह जन्म क्या है, आखिर आगे होने वाली मृत्यु का ही तो वह निमन्त्रण हैं। फिर जब वे पुत्रादि के जन्म में उत्सव मनाते हैं तो यह क्यों न समझा जाय कि वे आगे होने वाली उसकी मृत्यु का ही उत्सव मना रहे हैं। कारण यह कि जब वह उत्पन्न हुआ है तो मरेगा अवश्य ही। कहा भी है

संयुक्तारा वियोगश्च, भविता हि नियोगतः।
किमन्यैरङ्गतोऽप्यंगी, निः संगो हि निवर्तते।। (क्ष.चू. 1/60)

अर्थात् जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग भी अवश्य भावी है। अन्य की तो बात ही क्या है, किन्तु प्राणी सब कुछ यहीं पर छोड़कर इस शरीर से भी अकेला ही निकलकर जाता है। अभिप्राय यह है कि प्राणी की मृत्यु और जन्म ये दोनों परस्पर अविना भावी हैं। अतएव विवेकी जीव को न तो जन्म में हर्षित होना चाहिये और न मरण से दुखी भी। अन्यथा वह इस में तो दुखी है ही साथ ही इस प्रकार से असाता वेदनीय आदि का बन्ध करके परभव में भी दुखी ही रहने वाला हैं।

63. शरीर अनर्थकारी

शरीरमपि पुष्णन्ति, सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां, विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम्।।

अर्थ– प्रारम्भ में शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीर में दुष्ट इन्द्रियाँ होती है, वे अपने–अपने विषयों को चाहती हैं, और विषय मानहानि (अपमान), परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गति को देने वाले हैं। इस प्रकार से समस्त अनर्थों की परम्परा का मूल कारण वह शरीर ही हैं। अज्ञानी जन शरीर को पुष्ट करते हैं और विषयों का भी सेवन करते हैं। ठीक है–ऐसे मनुष्यों को कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है वे सब ही अकार्य कर सकते हैं। वे वैसा करते हुए मानो विष से जीवित रहने की इच्छा करते हैं।

64. कलिकाल का प्रभाव साधुओं पर

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो, विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः।।

अर्थ– जिस प्रकार हिरण वन में इधर–उधर दुखी होकर सिंहादिकों से भयभीत होकर–रात्रि में उस वन से गाँव के निकट आ जाते हैं उसी प्रकार इस

पंचम काल में मुनिजन भी वन में इधर–उधर दुखी होकर हिंसक एवं अन्य दुष्ट जनों से भयभीत होकर रात्रि में वन को छोड़कर गाँव के समीप रहने लगे हैं, यह खेद की बात हैं।

65. वैराग्य हीन का गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य, तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकैः, लुप्त वैराग्य संपदः॥

अर्थ– आज जो तप ग्रहण किया गया है वह यदि कल स्त्रियों के कटाक्षों रूप लुटेरों के द्वारा वैराग्य रूप सम्पत्ति से रहित किया जाता है तो जन्मपरम्परा (संसार) को बढ़ाने वाले उस तप की अपेक्षा तो कहीं गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ था।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जिसने पूर्व में विषयों से विरक्त होकर समस्त परिग्रह के परित्याग पूर्वक तप को स्वीकार किया है वह यदि पीछे स्त्रियों के कटाक्षपात एवं हाव–भावादि से पीड़ित होकर उस वैराग्य रूप सम्पत्ति को नष्ट करता है और अनुराग को प्राप्त होता है तो वह अतिशय निन्दा का स्थान बनता है इससे तो कहीं वह गृहस्थ ही बना रहता तो अच्छा था। कारण कि इससे उसकी संसार परम्परा तो न बढ़ती जो कि ग्रहीत तप को छोड़ देने से अवश्य ही बढ़ने वाली हैं।

65. आ.शा./198

66. आत्मज्ञानी शरीर के रोग नहीं देखता?

अपि रोगादिभिर्वृद्धै, र्न यतिः खेद मृच्छति।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः, प्रवृद्धेऽपि नदी जले।।

अर्थ– साधु अतिशय वृद्धि को प्राप्त हुए भी रोगादि को के द्वारा खेद को नहीं प्राप्त होता है। ठीक है– नाव में स्थिति प्राणी को नदी के जल में अधिक वृद्धि होने पर भी कौन–सा भय होता है? अर्थात् उसे किसी प्रकार का भी भय नहीं होता हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार प्रकार स्थिर नाव में बैठे हुए मनुष्य को नदी में जल के बढ़ जाने पर भी किसी प्रकार का खेद नहीं होता है। कारण कि वह यह समझता है कि नदी के जल में वृद्धि होने पर भी मैं इस नाव के सहारे से उसके पार जा पहुँचुगा। ठीक उसी प्रकार से जिसको शरीर का स्वभाव ज्ञात हो चुका है कि वह अपवित्र, रोगादि का घर तथा नश्वर हैं, वह विवेकी साधु उक्त शरीर के कठिन रोग से व्याप्त हो जाने पर भी किसी प्रकार से खेद को नहीं प्राप्त होता हैं।

67. अज्ञानी का सुख कैसा ?

शिरस्थं भारमुत्तार्य,स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण, अज्ञानी मन्यते सुखम्।।

अर्थ– शिर के ऊपर स्थित भार को उतारकर और उसे प्रयत्नपूर्वक कन्धे के ऊपर करके अज्ञानी प्राणी उस शरीरस्थ भार से सुख की कल्पना करता हैं।

विशेषार्थ– जिस प्रकार कोई मनुष्य शिर के ऊपर रखे हुए बोझ से पीड़ित होता हुआ उसे प्रयत्न पूर्वक शिर से उतारकर कन्धे के ऊपर रखता हैं। और उस अवस्था में अपने को सुखी मानता है। परन्तु वह अज्ञानी प्राणी यह नहीं सोचता कि वह बोझा तो अभी भी शिर के ऊपर स्थित है। भेद इतना ही हुआ है कि उसे शिर से उतारकर कन्धे पर रख लिया है और ऐसा करने से उसके कष्ट में कुछ थोड़ी–सी कमी अवश्य हुई हैं। परन्तु वास्तव में इससे उसे सुख का लेश भी नहीं प्राप्त हुआ है। ठीक इसी प्रकार से यह अविवेकी प्राणी भी शरीर में उत्पन्न हुए रोग को यथायोग्य औषधि आदि से नष्ट करके अपने को सुखी मानता है। परन्तु वह यह नहीं विचार करता कि रोगों का घर जो शरीर है उसका संयोग तो अभी भी बना है, ऐसी अवस्था में सुख भला कैसे प्राप्त हो सकता है? सच्चा सुख तो तब ही प्राप्त हो सकेगा

जब कि उसका शरीर के साथ सदा के लिए सम्बन्ध छूट जायेगा। उसकी उपर्युक्त सुख की कल्पना तो ऐसी है जैसे कि शिर से बोझ को उतारकर उसे कन्धे के ऊपर रखने वाला मनुष्य सुख की कल्पना करता है।

68. अनुद्वेग ही प्रतीकार

यावदस्ति प्रतीकार, स्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्ता ना, मनुद्वेगः प्रतिक्रिया।।

अर्थ– जब तक रोगों का प्रतीकर हो सकता है तब तक उसे करना चाहिये। परन्तु फिर भी यदि वे नष्ट नहीं होते हैं तो उससे खेद को प्राप्त नहीं होना चाहिए। यही वास्तव में उन रोगों का प्रतीकार हैं।

69. शरीर से मोह त्यागो

यदादाय भवेज्जन्मी,त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति।
शरीर मेव तत्त्याज्यं, किं शैषेः क्षुद्रकल्पनैः।।

अर्थ– जिस शरीर को प्राप्त करके प्राणी जन्मवान् अर्थात् संसारी बना हुआ है तथा जिसको छोड़कर वह मुक्त हो जावेगा उस शरीर को ही छोड़ देना चाहिये। अन्य क्षुद्र विचारों से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ? कुछ भी नहीं।

70. तप न कर सको, तो कषाय जीतो

करोतु न चिरं घोरं, तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्, न जयेद्यत्तदज्ञता।।

अर्थ– यदि तू कष्ट को सहने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता है तो न कर। परन्तु जो कषायादि मन से सिद्ध करने योग्य हैं। जीतने योग्य हैं– उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है।

विशेषार्थ– तपश्चरण में भूख आदि के दुख को सहना पड़ता है, इसलिये यदि अनशन आदि तपों को नहीं किया जा सकता है तो न भी किया जाय। परन्तु जो राग, द्वेष, एवं क्रोधादि आत्मा का अहित करने वाले हैं उनको तो भले प्रकार से जीता जा सकता है। कारण कि उनके जीतने में न तो तप के अतिरिक्त किसी अन्य साम्रगी की अपेक्षा भी करनी पड़ती हैं इसलिये उक्त रागद्वेषादि को तो जीतना ही चाहिये। फिर यदि उनको भी प्राणी नहीं जीतना चाहता है तो वह उसकी अज्ञानता ही कही जावेगी।

71. माया भाव गड्ढा है।

भेयं मायामहागर्तान्, मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिंलीना न लक्ष्यन्ते, क्रोधादि विष माहयः।।

अर्थ– जो पापाचार रूप बड़ा गड्ढा मिथ्यात्व रूप सघन अंधकार से परिपूर्ण है तथा जिसके भीतर छिपे हुए क्रोधादि कषायों रूप भयानक सर्प देखने में नहीं आते हैं उस मायारूप गड्ढे से भयभीत होना चाहिए।

विशेषार्थ– जिस प्रकार सघन अंधकार से परिपूर्ण एवं सर्पादि को से व्याप्त गहरे गड्ढे में यदि कोई प्राणी असावधानी से गिर जाता है तो उससे उसका उद्धार होना अशक्य है– सर्पादिकों के द्वारा काटने से वहाँ ही वह मरण को प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह मायाचार में भी उक्त सर्पों के समान कष्टप्रद क्रोधादि कषायें छिपी रहती हैं। अतएव आत्महितैषी जीवों को उस भयानक पापाचार रूप गड्ढे से दूर ही रहना चाहिये।

71. आ.शा./221

72. समता तीसरा चरण

रतेररतिमायातः, पुना रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य, बालिशो वत सीदसि।।

अर्थ– हे भव्य ! तू राग से हटकर द्वेष को प्राप्त होता है और तत्पश्चात् उससे भी रहित होकर फिर से उसी राग को प्राप्त होता है। इस प्रकार खेद है कि तू राग–द्वेष के अभावरूप तीसरे पद को समताभाव को न प्राप्त करके यों ही दुखी होता हैं।

73. प्रवृत्ति निवृत्ति विचार कब?

निवृत्तिं भावयेद्यावन्, वनिवृत्य तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च, तदेव पदमव्ययम्।।

अर्थ– जब तक छोड़ने के योग्य शरीरादि बाह्य वस्तुओं से सम्बंध है तब तक निवृत्ति का विचार करना चाहिये और जब छोड़ने के योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती है तब न तो प्रवृत्ति रहती है और न निवृत्ति भी। वही अविनश्वर मोक्षपद है।

विशेषार्थ– जब तक बाह्य वस्तुओं से अनुराग है तब तक निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् जब उन

बाह्य वस्तुओं से अनुराग नष्ट हो जाता है तब उनका संयोग भी नष्ट हो जाता है तब उनका संयोग भी हट जाता है और इसीलिये उस समय प्रवृत्ति और निवृत्ति से रहित अविनश्वर मोक्षपद प्राप्त हो जाता है।

74. शुभ त्याग और शुद्ध ग्रहण उपदेश

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं, शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते, प्राप्नोति परमं पदम्॥

अर्थ– पूर्व श्लोक में जिन तीन शुभ, पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया हैं उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिये। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ– ऊपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है श्लोक 239 में जो अशुभ, पाप, और दुख ये तीन अहित कारक बतलाये गये हैं। उनमें भी

प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिए। कारण यह है कि ऐसा होने पर शेष दोनों पाप और दुःख स्वयमेव नहीं रह सकेंगे, क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है। इस प्रकार जब मूल कारण–भूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्यभूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है– नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहित कारक तीन के नष्ट हो जाने पर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं। वे भी वास्तव में हितकारक नहीं है। इनको जो हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया नहीं है वह अतिशय अहितकारी अशुभादि की अपेक्षा ही बतलाया है। यथार्थ में तो वे भी परतन्त्रता के ही कारण हैं। भेद इतना ही है कि जहाँ अशुभादिक जीव को नारक एवं तिर्यंच पर्याय में प्राप्त कराकर केवल दुख का ही अनुभव कराते हैं वहाँ वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर केवल दुख मिश्रित सुख का अनुभव कराते हैं। इसीलिये यहाँ यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीन को छोड़ देने के पश्चात् शुद्धोपयोग में स्थित होकर उस शुभ को भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाभावी पुण्य व सांसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्वाण मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला है।

75. ममत्व भाव दुःखकारक

ममेदमहमस्येति, प्रीतिरीति–रिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्,तावत्काशा तपः फले।।

अर्थ– यह मेरा है और मैं इसका हूँ इस प्रकार का अनुराग जब तक ईति के समान खेत (शरीर) के विषय में उत्पन्न होकर खेत के स्वामी के समान आचरण करता है तब तक तप के फलभूत मोक्ष के विषय में भला क्या आशा की जा सकती है ? नहीं की जा सकती है।

विशेषार्थ– अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ (टिडडी) चूहा तोता, स्वचक्र और परचक्र (अतिवृष्टि अनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः। स्वचक्रं व सप्तैताः ईतयः स्मृताः।) ये सात ईति मानी जाती हैं। जिस प्रकार इन ईतियों में से कोई भी ईति यदि खेत के मध्य में उत्पन्न होती है तो वह उस खेत को (फसल को) नष्ट कर देती है। इससे वह कृषक कृषि के फल (अनाज) को नहीं प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार तपस्वी को यदि शरीर के विषय में अनुराग है और इसीलिये यदि वह यह समझता है कि यह शरीर मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ तो उसका वह अनुराग ईति के समान उपद्रवकारी होकर तप के फल को– मोक्ष को–नष्ट कर देता हैं।

75. आ.शा./242

76. भ्रम वश भटकता रहा

मामन्यमन्यं मां मत्त्वा, भ्रान्तो भ्रन्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाह, मन्योऽन्योऽहमस्मि न॥

अर्थ– मुझको (आत्मा को) अन्य शरीरादिरूप तथा शरीरादि को मैं (आत्मा) समझकर यह प्राणी उक्त भ्रम के कारण अब तक संसार रूप समुद्र में घूमा है। वास्तव में मैं अन्य नहीं हूँ–शरीरादि नहीं हूँ, मैं–मैं ही हूँ, और अन्य (शरीरादि) अन्य ही हैं, अन्य मैं नहीं हूँ, इस प्रकार जब अभ्रान्त ज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही प्राणी उक्त संसार रूप समुद्र के परिभ्रमण से रहित होता है।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जीव जब तक शरीर को ही आत्मा मानता है –शरीर से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को उससे पृथक् नहीं मानता है– तब तक वह इस भ्रम के कारण पर पदार्थों में राग– द्वेष दुख सहता है। और जब उसका उपर्युक्त भ्रम हट जाता है– तब वह आत्मा को आत्मा एवं शरीरादि पर पदार्थों को पर मानने लगता है– तब वह राग–द्वेष से रहित होकर उक्त संसार–परिभ्रमण से छूट जाता है।

76. आ.शा./243

77. बन्ध और मोक्ष अपने–अपने भावनानुसार

अधिकः क्वचिदाश्लेषः, क्वचिद्धीनः क्वचित्समः।
क्वचिद्विश्लेष एवायं, बन्ध मोक्षक्रमो मतः॥

अर्थ– किसी जीव के अधिक कर्मबन्ध होता है, किसी के अल्प कर्मबन्ध होता है, किसी के समान ही कर्मबन्ध होता है, और किसी के कर्मबन्ध न होकर केवल उसकी निर्जरा ही होती है। यह बन्ध और मोक्ष का क्रम माना गया है।

विशेषार्थ– बन्ध और निर्जरा की हीनाधिकता परिणामों के ऊपर निर्भर है। यथा अभव्य जीव के परिणाम चूंकि निरन्तर संक्लेषरूप रहते हैं, अतः उसके बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है। आसन्न– भव्य के परिणाम निर्मल होने से उसके बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है। दूरभव्य के मध्यम जाति के परिणाम होने से उसके बन्ध और निर्जरा दोनों समान रूप से होते हैं। तथा जीवनमुक्त अवस्था में बन्ध का अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है। यह बन्ध और निर्जरा का क्रम नाना जीवों की अपेक्षा से है। यदि उसका विचार एक जीव की

77. आ.शा./245

अपेक्षा से करें तो वह इस प्रकार से किया जा सकता है– मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है, मिश्र गुणस्थानों में बंध और निर्जरा दोनों समानरूप में होते हैं तथा क्षीण कषायादि गुणस्थानों में बंध का स्थिति व अनुभाग बंध का अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है। वहाँ जो बंध होता है वह एक मात्र साता वेदनीय का होता है, सो भी केवल प्रकृत्ति और प्रदेशरूप।

78. योगी का स्वरूप

यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्रवः।।

अर्थ– जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीव होते है। वह योगी कहा जाता है और उसके कर्मों का मोक्ष होता है, किन्तु आस्रव नहीं होता है।

78. आ.शा./246

79. तप रूप तालाब की रक्षा करो

महातपस्तडागस्य, संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पा, मप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम्।।

अर्थ– हे साधो ! गुणरूप जल से परिपूर्ण महातप रूप तालाब के प्रतिज्ञारूप पालिबंध (बांध) के विषय में तू थोड़ी सी भी हानि की उपेक्षा न कर।

विशेषार्थ – मुनिधर्म एक तालाब के समान है। जिस प्रकार तालाब जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार वह मुनिधर्म सम्यग्दर्शनादि गुणों से परिपूर्ण होता है। यदि तालाब का बांध कहीं थोड़ा सा भी गिर जाता है तो उसमें फिर पानी स्थिर नहीं रह सकता है। इसीलिये बुद्धिमान मनुष्य सावधानी के साथ उसके ठीक करा देता है ठीक उसी प्रकार से यदि साधु धर्म में भी की गई व्रत्तपरिपालन की प्रतिज्ञा में कुछ तृटि होती है तो बुद्धिमान साधु को उसकी उपेक्षा न करके उसे शीघ्र ही प्रायश्चित्त आदि के विधान से सुधार लेना चाहिये। अन्यथा उसके सम्यग्दर्शानादि गुण स्थिर न रह सकेंगे।

79. आ.शा./247

80. दोष कथन ही सदोष भोजन है

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्, तपोभिरति दुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः, परदोष कथाशनैः।।

अर्थ– जो साधु अतिशय दुष्कर तपों के द्वारा अपने जिन दोषों के नष्ट करने में उक्त है वह अज्ञानतावश दूसरों के दोषों के कथन (परनिन्दा) रूप भोजनों के द्वारा उन्हीं दोषों को पुष्ट करता है।

विशेषार्थ– यदि कोई व्यक्ति अजीर्णादि रोगों को शान्त करने के लिये औषधि तो लेता है, किन्तु भोजन छोड़ता नहीं है– उसे वह बराबर चालू ही रखता है तो ऐसी अवस्था में जिस प्रकार वे अजीर्णादि रोग कभी शांत नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार जो परनिन्दा रूप भोजन को छोड़ता नहीं है उसके वे रागादि दोष भी कभी नष्ट नहीं हो सकते हैं। कारण कि पर निन्दा करने वाला ईर्ष्यालु मनुष्य मान कषाय के वश हो करके दूसरे में न रहने वाले दोषों को प्रगट करता है तथा जो गुण अपने में नहीं हैं उन्हें वह प्रकाशित किया करता है। इस प्रकार उसके वे राग–द्वेषादि घटने के बजाय बढ़ते ही हैं।

80. आ.शा./249

81. योगी जीवन का चित्रण

यद्यदाचरितं पूर्वं, तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तर विज्ञाना, द्योगिनः प्रतिभासते।।

अर्थ– पूर्व में जो–जो आचरण किया है– दूसरे के दोषों को और अपने गुणों को जो प्रकट किया है– वह सब योगी के लिये आगे–आगे विवेकीज्ञान की बुद्धि होने से अज्ञानतापूर्ण किया गया प्रतीत होता हैं।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जब तक विवेक बुद्धि का उदय नहीं होता है तब तक ही व्यक्ति दूसरे की निन्दा और आत्मप्रशंसा आदिरूप हीन आचरण करता है। किन्तु आगे ज्यों–ज्यों उसका विवेक बढ़ता जाता है त्यों–त्यों उसे वह अपना पूर्व आचरण आज्ञनता वश किया गया स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। इसीलिये तब वह दूसरों के दोषों पर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणों के विकास पर ही अधिकाधिक प्रयत्न करता है।

81. आ.शा./251

82. योगी का चिंतन

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्, जलं वाऽनलसंगमात्।
इति देहं परित्यज्य, शीतीभूताः शिवैषिणः॥

अर्थ– जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल संतप्त होता है। उसी प्रकार मैं शरीर के संयोग से संतप्त हुआ हूँ–दुखी हुआ हूँ। उसी प्रकार मोक्ष की अभिलाषा करने वाले भव्य जीव इस शरीर को छोड़कर के सुखी हुए हैं।

83. मोहनाशक ही श्रेष्ठ पुरुष

अनादिचयसंवृद्धो, महामोहो हृदि स्थितः।
सम्यग्योगेन यैर्वान्त,स्तेषामूर्ध्वं विशुद्धयति॥

अर्थ– हृदय में स्थित जो महान् मोह अनादि काल से असान वृद्धि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है उसको जिन महापुरुषों ने समीचीन समाधि के द्वारा वान्तकर दिया है। नष्ट कर दिया हैं। उनका आगे का भव विशुद्ध होता है।

विशेषार्थ– किसी व्यक्ति के अन्दर में यदि बहुत काल से संचित होकर मलकी वृद्धि हो जाती है तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जाता है।ऐसी अवस्था में यदि वह बुद्धिमान् है तो योग्य औषधि

के द्वारा वमन–विरेचन आदि करके उस संचित मल को नष्ट कर देता है। इससे वह स्वस्थ हो जाता है। और उसका आगे का समय भी स्वस्थता के साथ आनन्दपूर्वक बीतता है। ठीक इसी प्रकार से सब संसारी जीवों के अनादि काल से महामोह की वृद्धि हो रही है। इससे वे निरन्तर दुखी रहते हैं। उनमें जो विवेकी जीव हैं वे बाह्य वस्तुओं से राग और द्वेष को छोड़कर तप का आचरण करते हुए उस मोह को कम करते हैं। इस प्रकार अन्त में समीचीन ध्यान (धर्म व शुक्ल) के द्वारा उस महामोह को सर्वथा नष्ट करके वे भविष्य में अविनश्वर अनुपम सुख का अनुभव करते हैं।

84. गुणी गुणमय ही रहता

गुणी–गुणमयस्तस्य, नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं, शून्य मन्यैर्विकल्पितम्।।

अर्थ– गुणवान् आत्मा गुण स्वरूप है– गुण से अभिन्न है। अतएव गुण के नाश का मानना गुण के ही नाश का मानना है। इसीलिये अन्य वादियों ने (बौद्धों ने) आत्मा के निर्वाण को शून्य के समान कल्पित किया है तथा जैनों ने उस निर्वाण को अन्य राग–द्वेषादि रूप शुभाशुभ भावों से शून्य कल्पित किया है।

84. आ.शा./265

विशेषार्थ– नैयायिक और वैशेषिक गुण और गुणी में सर्वदा भेद को स्वीकार करते हैं। उसके मतानुसार गुणी में गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। वह समवाय नित्य व्यापक और एक हैं। वे मुक्तावस्था में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ गुणों का नाश मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकार से गुण और गुणी में सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा स्वरूपतः ज्ञानादि गुणों से रहित होने के कारण जड़ (अचेतन) सिद्ध होता है जो योग्य नहीं है। इसलिये आत्मा को उक्त ज्ञानादि गुणों से अभिन्न मानना चाहिये। और जब वह आत्मा ज्ञानादि गुणों से अभिन्न सिद्ध है तब भला मुक्तावस्था में उन ज्ञानादि गुणों का नाश स्वीकार करने से आत्मा का भी नाश क्यों न स्वीकार करना पड़ेगा ? परन्तु वह बौद्धों के समान वैशेषिक को नहीं है। वैसी मुक्ति तो बौद्ध ही स्वीकार करते है। उनका कहना है कि जिस प्रकार तेल के समाप्त हो जाने पर विनष्ट हुआ दीपक न किसी दिशा को जाता है, न किसी विदिशा को जाता है, न पृथिवी में जाता है, और न आकाश में भी जाता है। किन्तु वह केवल शान्ति को प्राप्त होता है। उसी प्रकार उसी प्रकार मुक्ति को प्राप्त हुआ जीव भी कहीं न जाकर केवल शन्ति को शून्यता को प्राप्त होता है। इस प्रकार उन्होंने जीव के निर्वाण को प्रदीप के निर्वाण के समान शून्यरूप माना है।

अतएव गुण और गुणी में कथंचित् भेदाभेद को स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा उपर्युक्त प्रकार से बौद्धमत का प्रसंग दुर्निवार होगा।

85. आत्मा कैसा है?

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः,कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो, गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः।।

अर्थ– आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जन्म से और मरण से भी रहित होकर अनादि निधन हैं। वह शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अमूर्त होकर रूप,रस,गन्ध एवं स्पर्श से रहित है वह व्यवहार की अपेक्षा शुभ व अशुभ कर्मों का कर्ता तथा निश्चय से अपने चेतन भावों का ही कर्ता है। इसी प्रकार वह व्यवहार से पूर्वकृत कर्म के फलभूत सुख व दुख का भोक्ता तथा निश्चय से वह अनन्त सुख का भोक्ता है। वह स्वभाव से सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहार से प्राप्त हुए हीनाधिक शरीर के प्रमाण तथा निश्चय से वह असंख्यात प्रदेशी लोक के प्रमाण है। वह जब कर्म मल से रहित होता है तब स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करके तीनों लोकों का प्रभु होता हुआ सिद्धशिला पर स्थिर हो जाता है।

85. आ.शा./266

86. सिद्धों का सुख

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्, सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीन सुख सम्पन्ना,न सिद्धाः सुखिनः कथम्।।

अर्थ– तपस्वी जो स्वाधीनतापूर्वक कायक्लेषादि के कष्ट को सहते हैं वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुख से सम्पन्न हैं वे सुखी कैसे न होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे।

विशेषार्थ– ऊपर के श्लोक में सिद्धों को सुखी बतलाया गया है। इस पर यह शंका हो सकती थी, कि सुख की साधनभूत जो सम्पत्ति आदि है, वह तो सिद्धों के पास है नहीं, फिर वे सुखी कैसे हो सकते है? इसके ऊपर में यहाँ यह बतलाया हैं, कि पराधीनता का जो अभाव है वहीं वास्तविक में सुख हैं। और वह सिद्धों को पूर्णतया विद्यमान है, सम्पत्ति आदि के संयोग से जो सुख होता है वह पराधीन हैं। इसलिये तदानुरूप पुण्य के उदय से जब तक उन पर पदार्थों की अनुकूलता है तभी तक वह सुख रह सकता है इसके पश्चात् वह नष्ट ही होने वाला है। परन्तु सिद्धों का जो स्वाधीन सुख है वह शाश्वत् है–अविनश्वर है। देखो साधु जन आपनी इच्छानुसार

कायक्लेषादि रूप अनेक प्रकार के दुखों को सहते हैं। परन्तु इसमें उन्हें स्वाधीनता से सहा जाने वाला दुख भी जब उनको सुख स्वरूप प्रतिभासित होता है, तब भला प्राप्त हुए उस स्वाधीन सुख से सिद्ध जीव क्यों न सुखी होगें? तो अतिशय सुखी होंगे ही।

87. अन्तिम मंगल

जिनसेनाचार्यपाद, स्मरणाधीन चेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां, कृतिरात्मानुशासनम्।।

अर्थ– जिन भगवान की सेवारूप साधुओं के आचार्य स्वरूप जो गणधर देव हैं उनके चरणों के स्मरण में चित्त को लगाने वाले एवं कल्याणकारी अनेक गुणों से संयुक्त ऐसे पूज्य आचार्यों की यह आत्मस्वरूप के विषय में शिक्षा देने वाली कृति (रचना) हैं। दूसरा अर्थ– भी जिनासेनाचार्य के चरणों के स्मरण में चित्त को अर्पित करने वाले गुणभद्राचार्य की यह आत्मानुशासन नामक कृति है यह ग्रन्थ रचना।

।। श्री गुणभद्राचार्य की जय।।

❋❋❋

87. आ.शा./269

पूज्य क्षुल्लिका 105 सिद्धश्री माता जी

पूर्व नाम	:	बा. ब्र. प्रिया दीदी
माता का नाम	:	श्रीमति मीना जैन
पिता का नाम	:	श्रीमान सुभाष जैन
जन्म स्थान	:	हटा, जिला- दमोह (म.प्र.)
जन्म तिथि	:	27 जुलाई 1993
लौकिक शिक्षा	:	बी.ए. प्रथम वर्ष
संघ प्रवेश	:	10 जून 2011
ब्रह्मचर्य व्रत	:	10 फरवरी 2009
प्रतिमा धारण	:	पटेरीया जी
दीक्षा गुरु	:	प.पू. आचार्य श्री विभवसागर जी महाराज
क्षुल्लिका दीक्षा	:	16 नवम्बर 2016, जैतहरी, जिला-अनूपपुर (म.प्र.)
विशेष	:	मुनि श्री सम्पन्न कीर्ति जी एवं आ. प्रज्ञा श्री माताजी का सत्सल्लेखना समाधि मरण कराने का अनुपमेय अनुभव

सारस्वत श्रमण! नय चक्रवर्ती! श्रमणाचार्य डॉ.

108 श्री विभवसागरजी महाराज

जन्म	-	23 अक्टूबर 1976, दीपावली
वैराग्य	-	9 अक्टूबर 1994 को ब्र. व्रत
क्षुल्लक दीक्षा	-	28 जनवरी 1995, मंगलगिरि, सागर (म.प्र.)
ऐलक दीक्षा	-	23 फरवरी 1996, देवेन्द्र नगर (पन्ना) म.प्र.
मुनि दीक्षा	-	14 दिसम्बर 1998, अतिशय क्षेत्र बरासौं, भिण्ड (म.प्र.)
दीक्षा गुरु	-	गणाचार्य 108 श्री विरागसागरजी महाराज
आचार्य पद	-	31 मार्च 2007, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)